हिन्दी साहित्य का आदिकाल

(Adikal of Hindi Literature)

सतवंत सिंह

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

हिन्दी साहित्य का आदिकाल
(Adikal of Hindi Literature)

सतवंत सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5574-8

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

आदिकाल, सन् 1000 से 1325 तक के हिंदी साहित्य युग को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीर-गाथा काल नाम दिया है। इसका चारण-काल, सिद्ध-सामंत काल और अन्य नाम से भी उल्लेख किया जाता है। इस समय का साहित्य मुख्यतः इन रूपों में मिलता है–सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन साहित्य, चारणी-साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य।

भाषा की दृष्टि से इस काल के साहित्य में हिंदी के प्रारंभिक रूप का पता चलता है तो भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज इसमें खोजे जा सकते हैं। इस काल की रचना-शैलियों के मुख्य रूप इसके बाद के कालों में मिलते हैं। आदिकाल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। इस कारण आदिकाल नाम ही अधिक उपयुक्त तथा व्यापक नाम है।

सिद्ध साहित्य के इतिहास में चौरासी सिद्धों का उल्लेख मिलता है। सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिये, जो साहित्य जनभाषा मे लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध साहित्य की सीमा में आता है।

सिद्ध सरहपा (सरहपाद, सरोजवज्र, राहुल भद्र) से सिद्ध सम्प्रदाय की शुरुआत मानी जाती है। यह पहले सिद्ध योगी थे। जाति से यह ब्राह्मण थे। राहुल सांकृत्यायन ने इनका जन्मकाल 769 ई. का माना, जिससे सभी विद्वान सहमत

हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रंथ बताए जाते हैं, जिनमें से 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया तथा गुरु सेवा को महत्त्व दिया।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**हिंदी साहित्य**	**1**
	हिंदी साहित्य का इतिहास	1
	परिचय	2
	संरचना	3
2.	**आदिकाल**	**8**
	जैन साहित्य	9
	चारणी–साहित्य	9
	आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत	16
	डॉ. ग्रियर्सन का मत	18
	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत	19
3.	**जैन साहित्य**	**22**
	जैन आचार–मीमांसा	24
	जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	45
	जैन कवि एवं उनकी रचना का संक्षिप्त परिचय	55
4.	**रासो काव्य**	**62**
	प्रमुख रासो ग्रन्थ	63
	हिन्दी साहित्य में रासो काव्य परम्परा	63

5. हिंदी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक) रासो काव्य **72**
रासो काव्य का वर्गीकरण 73
रासो काव्य की भाषा 74
डिंगल और पिंगल 75
6. हिन्दी का सर्वप्रथम कवि **77**
आरंभिक जीवन 77
बौद्ध -धर्म की ओर झुकाव 79
साहित्यिक रुझान 79
व्यक्तित्त्व के आयाम 84
पुरस्कार व सम्मान 89
शिवसिंह सेंगर 92
शिवसिंह सरोज 92
क्लिष्ट और जटिल 102
सरल और व्यावहारिक 102
शैली 102
हजारीप्रसाद द्विवेदी 105
रचनात्मक वैशिष्ट्य 109

1

हिंदी साहित्य

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा में तलाशी जा सकती हैं। परंतु हिन्दी साहित्य की जड़ें मध्ययुगीन भारत की अवधी, मगधी, अर्द्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य में पायी जाती हैं। हिंदी में गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ और इसने अपनी शुरुआत कविता के माध्यम से जो कि ज्यादातर लोकभाषा के साथ प्रयोग कर विकसित की गई।हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है। हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है। गद्य, पद्य और चम्पू। हिंदी की पहली रचना कौन सी है इस विषय में विवाद है, लेकिन ज्यादातर साहित्यकार देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखे गये उपन्यास चंद्रकांता को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

हिंदी साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य के अब तक लिखे गए इतिहासों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य का इतिहास को सबसे प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास माना जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा था जिसे बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1929 ई0 में प्रकाशित आंतरित कराया गया। आचार्य शुक्ल ने गहन शोध और चिन्तन के बाद हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली है।

इतिहास-लेखन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी क्रमिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, जो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करती चलती है। विवेचन में तर्क का क्रमबद्ध विकास ऐसे है कि तर्क का एक-एक चरण एक-दूसरे से जुड़ा हुआ, एक-दूसरे में से निकलता दिखता है। लेखक को अपने तर्क पर इतना गहन विश्वास है कि आवेश की उसे अपेक्षा नहीं रह जाती।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक आचार्य शुक्ल का इतिहास इसी प्रकार तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप में चलता है। अपनी आरम्भिक उपपत्ति में आचार्य शुक्ल ने बताया है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बित होता है। इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाने में आचार्य शुक्ल का इतिहास और आलोचना-कर्म निहित है।

इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता है कि आधुनिक काल के सन्दर्भ में पहुँचकर शुक्ल जी ने यूरोपीय साहित्य का एक विस्तृत, यद्यपि कि सांकेतिक ही, परिदृश्य खड़ा किया है। इससे उनके ऐतिहासिक विवेचन में स्रोत, सम्पर्क और प्रभावों की समझ स्पष्टतर होती है।

परिचय

शुक्ल जी ने इतिहास लेखन का यह कार्य कई चरणों में पूरा किया था। सबसे पहले उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाने हेतु साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त नोट तैयार किया था। इस संक्षिप्त नोट के बारे में शुक्लजी ने खुद लिखा है, 'जिनमें (नोट में) परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'इसी समय के आस-पास हिन्दी शब्दसागर का कार्य पूर्ण हुआ और यह निश्चय किया गया कि भूमिका के रूप में 'हिन्दी भाषा का विकास' और 'हिन्दी साहित्य का विकास' दिया जाएगा। आचार्य शुक्ल ने एक नियत समय के भीतर हिन्दी साहित्य का विकास लिखा। कहना न होगा कि इस कार्य में उन्होंने संक्षिप्त नोट से भरपूर मदद ली। इस तरह हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कच्चा ढाँचा तैयार तो हो गया परन्तु शुक्ल जी इससे पूरी तरह सन्तुष्ट न थे।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गई शब्दसागर की भूमिका से पूर्व साहित्येहितासनुमा कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन आदि इस क्षेत्र में कुछ प्रयास कर चुके थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने 1900 से 1913 ई. तक पुस्तकों की खोज का कार्य व्यापक पैमाने पर किया था। इस कार्य से अनेक ज्ञात-अज्ञात रचनाओं और रचनाकारों का पता चला था। इस सामग्री का उपयोग कर मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' तैयार किया था। रीतिकालीन कवियों के परिचयात्मक विवरण देने में शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुविनोद का भरपूर उपयोग किया था। एक तरह से देखा जाये तो आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से पूर्व दो प्रकार के साहित्यिक स्रोत मौजूद थे। एक तो खुद शुक्लजी द्वारा तैयार की गई नोट और भूमिका तथा दूसरे, अन्य विद्वानों द्वारा लिखी गई पुस्तकें। इन सबकी मदद से आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जो 'शब्द सागर' की भूमिका के छह महीने बाद 1929 ई. में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर हिंदी साहित्य का इतिहास पुस्तक का ऑनलाइन संपादन प्रमुख लेखक तथा भाषा शिक्षक डॉ. सुरेश कुमार मिश्रा, रंगारेड्डी आंध्र प्रदेश के नेतृत्व दल में संपन्न हुआ।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का संशोधित और प्रवर्धित संस्करण सन् 1940 में निकला। यह संस्करण प्रथम संस्करण से भिन्न था। इस संस्करण में अन्य चीजों के अलावा 1940 ई. तक के साहित्य का आलोचनात्मक विवरण भी दे दिया गया था। अब यह साहित्येतिहास की पुस्तक एक मुकम्मल पुस्तक का रूप ले चुकी थी।

संरचना

इस ग्रन्थ में आदिकाल यानी वीरगाथा काल का अपभ्रंश काव्य एवं देश की भाषा काव्य के विवरण के बाद भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा तथा इस काल की अन्य रचनाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इसके बाद के रीतिकाल के सभी लेखक-कवियों के साहित्य को इसमें समाहित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक काल के गद्य साहित्य, उसकी परंपरा तथा उत्थान के साथ काव्य को अपने विवेचन केन्द्र में रखा है।

1. प्रथम संस्करण का वक्तव्य
2. संशोधित और परिवर्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो बातें

काल विभाग

आदिकाल (वीरगाथा, काल संवत् 1050-1375)

1. सामान्य परिचय
2. अपभ्रंश काव्य
3. देशभाषा काव्य
4. फुटकर रचनाए

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375-1700)

1. सामान्य परिचय
2. ज्ञानाश्रयी शाखा
3. प्रेममार्गी (सूफी) शाखा
4. रामभक्ति शाखा
5. कृष्णभक्ति शाखा
6. भक्तिकाल की फुटकर रचनाए

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700-1900)

1. सामान्य परिचय
2. रीति ग्रन्थकार कवि
3. रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल (गद्यकाल, संवत् 1900-1980)

1. सामान्य परिचय–गद्य का विकास
2. गद्य साहित्य का आविर्भाव
3. आधुनिक गद्यसाहित्य परम्परा का प्रवर्तन प्रथम उत्थान (संवत् 1925-1950)
4. गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन–प्रथम उत्थान
5. गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान (संवत् 1950-1975)
6. गद्य साहित्य का प्रसार
7. गद्य साहित्य की वर्तमान गति तृतीय उत्थान (संवत् 1975 से)
   काव्यखण्ड (संवत् 1900-1925)
   काव्यखण्ड (संवत् 1925-1950)

काव्यखण्ड (संवत् 1950-1975)
काव्यखण्ड (संवत् 1975)

आदिकाल

हिन्दी साहित्य आदिकाल को आलोचक 1400 ई. से पूर्व का काल मानते हैं जब हिन्दी का उद्‌भव हो ही रहा था। हिन्दी की विकास-यात्रा दिल्ली, कन्नौज और अजमेर क्षेत्रों में हुई मानी जाती है। पृथ्वीराज चौहान का उस समय दिल्ली में शासन था और चंदबरदाई नामक उसका एक दरबारी कवि हुआ करता था। चंदबरदाई की रचना 'पृथ्वीराजरासो' है, जिसमें उन्होंने अपने मित्र पृथ्वीराज की जीवन गाथा कही है। 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी साहित्य में सबसे बृहत् रचना मानी गई है। कन्नौज का अंतिम राठौड़ शासक जयचंद था जो संस्कृत का बहुत बड़ा संरक्षक था।

भक्ति काल

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल 1375 वि0 से 1500 वि0 तक माना जाता है। यह काल प्रमुख रूप से भक्ति भावना से ओत-प्रोत काल है। इस काल को समृद्ध बनाने वाली दो काव्य-धाराएं हैं -1.निर्गुण भक्तिधारा तथा 2.सगुण भक्तिधारा। निर्गुण भक्तिधारा को आगे दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है, संत काव्य (जिसे ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में जाना जाता है,इस शाखा के प्रमुख कवि, कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास, धर्मदास आदि हैं।

निर्गुण भक्तिधारा का दूसरा हिस्सा सूफी काव्य का है। इसे प्रेमाश्रयी शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा के प्रमुख कवि हैं- मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद आदि।

भक्तिकाल की दूसरी धारा को सगुण भक्ति धारा के रूप में जाना जाता है। सगुण भक्तिधारा दो शाखाओं में विभक्त है- रामाश्रयी शाखा, तथा कृष्णाश्रयी शाखा। रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, केशवदास, हृदयराम, प्राणचंद चौहान, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुनाथ सिंह।

कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- सूरदास, नंददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास, कृष्णदास, मीरा, रसखान, रहीम आदि। चार प्रमुख कवि जो अपनी-अपनी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये कवि हैं:-

- कबीरदास (1399)-(1518)
- मलिक मोहम्मद जायसी (1477-1542)
- सूरदास (1478-1580)
- तुलसीदास (1532-1602)

रीति काल

हिंदी साहित्य का रीति काल संवत 1700 से 1900 तक माना जाता है यानी 1643 ई. से 1843 ई. तक। रीति का अर्थ है बना बनाया रास्ता या बँधी-बँधाई परिपाटी। इस काल को रीतिकाल कहा गया क्योंकि इस काल में अधिकांश कवियों ने श्रृंगार वर्णन, अलंकार प्रयोग, छंदबद्धता आदि के बंधे रास्ते की ही कविता की। हालांकि घनानंद, बोधा, ठाकुर, गोबिंद सिंह जैसे–रीति-मुक्त कवियों ने अपनी रचना के विषय मुक्त रखे।

केशव (1546-1618), बिहारी (1603-1664), भूषण (1613-1705), मतिराम, घनानन्द, सेनापति आदि इस युग के प्रमुख रचनाकार रहे।

आधुनिक काल

आधुनिक काल हिंदी साहित्य पिछली दो सदियों में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा है। जिसमें गद्य तथा पद्य में अलग-अलग विचार धाराओं का विकास हुआ। जहाँ काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग और यथार्थवादी युग इन चार नामों से जाना गया, वहीं गद्य में इसको, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, रामचंद् शुक्ल व प्रेमचंद युग तथा अद्यतन युग का नाम दिया गया।

अद्यतन युग के गद्य साहित्य में अनेक ऐसी साहित्यिक विधाओं का विकास हुआ जो पहले या तो थीं ही नहीं या फिर इतनी विकसित नहीं थीं कि उनको साहित्य की एक अलग विधा का नाम दिया जा सके। जैसे–डायरी, यात्राविवरण, आत्मकथा, रूपक, रेडियो नाटक, पटकथा लेखन, फिल्म आलेख इत्यादि।

नव्योत्तर काल

नव्योत्तर काल की कई धाराएं हैं - एक, पश्चिम की नकल को छोड़ एक अपनी वाणी पाना, दो, अतिशय अलंकार से परे सरलता पाना, तीन, जीवन और

समाज के प्रश्नों पर असंदिग्ध विमर्श। कंप्यूटर के आम प्रयोग में आने के साथ-साथ हिंदी में कंप्यूटर से जुड़ी नई विधाओं का भी समावेश हुआ है, जैसे- चित्रलेखन और जालघर की रचनाएं। हिन्दी में अनेक स्तरीय हिंदी चित्रे, जालघर व जाल पत्रिकायें हैं। यह कंप्यूटर साहित्य केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के हर कोने से लिखा जा रहा है। इसके साथ ही अद्यतन युग में प्रवासी हिंदी साहित्य के एक नए युग का आरंभ भी माना जा सकता है।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों का साहित्य

भाषा के विकास-क्रम में अपभ्रंश से हिन्दी की ओर आते हुए भारत के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग भाषा-शैलियां जन्मीं। हिन्दी इनमें से सबसे अधिक विकसित थी, अत: उसको भाषा की मान्यता मिली। अन्य भाषा शैलियां बोलियां कहलाईं। इनमें से कुछ में हिंदी के महान कवियों ने रचना की जैसे–तुलसीदास ने रामचरित मानस को अवधी में लिखा और सूरदास ने अपनी रचनाओं के लिए बृज भाषा को चुना, विद्यापति ने मैथिली में और मीराबाई ने राजस्थानी को अपनाया।

हिंदी की विभिन्न बोलियों का साहित्य आज भी लोकप्रिय है और आज भी अनेक कवि और लेखक अपना लेखन अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में करते हैं।

2

आदिकाल

आदिकाल सन् 1000 से 1325 तक हिंदी साहित्य के इस युग को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीर-गाथा काल नाम दिया है। इसका चारण-काल, सिद्ध-सामंत काल और अन्य नाम से भी उल्लेख किया जाता है। इस समय का साहित्य मुख्यतः इन रूपों में मिलता है–सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन साहित्य, चारणी-साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य।आदिकाल सन् 1000 से 1325 तक हिंदी साहित्य के इस युग को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीर-गाथा काल नाम दिया है। इसका चारण-काल, सिद्ध-सामंत काल और अन्य नाम से भी उल्लेख किया जाता है। इस समय का साहित्य निम्न रूपों में मिलता है –

सिद्ध-साहित्य,
नाथ-साहित्य,
जैन साहित्य,
चारणी-साहित्य,
प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। सिद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद

अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है।ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा मे करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुँचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्त्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

चारणी-साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणत: राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्राय: राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। शृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई

कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड वगैरह मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली का आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हो गया है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। आपके मधुर पदों के कारण आपको 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में आपकी रचनाएं मिलती हैं। आपकी पदावली का मुख्य रस शृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुंदर वर्णन,शृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

सिद्धों की भोग-प्रधान योग-साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना आरम्भ हुई। इस पंथ को चलाने वाले मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) तथा गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) माने जाते हैं। इस पंथ के साधक लोगों को योगी, अवधूत, सिद्ध, औघड़ कहा जाता है। कहा यह भी जाता है कि सिद्धमत और नाथमत एक ही हैं।

सिद्धों की भोग-प्रधान योग-साधना की प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुँचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्त्वपूर्ण थे। आपकी कई

रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

गोरखनाथ के जन्मकाल पर विद्वानों में मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन इनका जन्मकाल 845 ई. की 13वीं सदी का मानते हैं। नाथ परम्परा की शुरुआत बहुत प्राचीन रही है, किंतु गोरखनाथ से इस परम्परा को सुव्यवस्थित विस्तार मिला। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे। दोनों को चौरासी सिद्धों में प्रमुख माना जाता है।

गुरु गोरखनाथ को गोरक्षनाथ भी कहा जाता है। इनके नाम पर एक नगर का नाम गोरखपुर है। गोरखनाथ नाथ साहित्य के आरम्भकर्ता माने जाते हैं। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं भगवान शिव को माना जाता है। शिव की परम्परा को सही रूप में आगे बढ़ाने वाले गुरु मत्स्येन्द्रनाथ हुए। ऐसा नाथ सम्प्रदाय में माना जाता है।

गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय थे, जिनका नाथ सम्प्रदाय में विलय हो गया। शैव एवं शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योग मार्गी भी उनके सम्प्रदाय में आ मिले थे।

गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं तथा साधना में योग के अंग क्रिया-योग अर्थात तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणीधान को अधिक महत्त्व दिया है। इनके माध्य्यम से ही उन्होंने हठयोग का उपदेश दिया। गोरखनाथ शरीर और मन के साथ नए-नए प्रयोग करते थे। गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 40 बताई जाती है, किन्तु डा. बड़थ्वाल ने केवल 14 रचनाएं ही उनके द्वारा रचित मानी है, जिसका संकलन 'गोरखबानी' मे किया गया है।

जनश्रुति अनुसार उन्होंने कई कठनि (आड़े-तरिछे) आसनों का आविष्कार भी किया। उनके अजूबे आसनों को देख लोग अचम्भित हो जाते थे। आगे चलकर कई कहावतें प्रचलन में आई। जब भी कोई उल्टे-सीधे कार्य करता है तो कहा जाता है कि 'यह क्या गोरखधंधा लगा रखा है।'

गोरखनाथ का मानना था कि सिद्धियों के पार जाकर शून्य समाधि में स्थित होना ही योगी का परम लक्ष्य होना चाहिए। शून्य समाधि अर्थात समाधि से मुक्त हो जाना और उस परम शिव के समान स्वयं को स्थापित कर ब्रह्मलीन हो जाना, जहाँ पर परम शक्ति का अनुभव होता है। हठयोगी कुदरत को चुनौती

देकर कुदरत के सारे नियमों से मुक्त हो जाता है और जो अदृश्य कुदरत है, उसे भी लाँघकर परम शुद्ध प्रकाश हो जाता है।

सिद्ध योगी–गोरखनाथ के हठयोग की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले सिद्ध योगियों में प्रमुख हैं :– चौरंगीनाथ, गोपीनाथ, चुणकरनाथ, भर्तृहरि, जालन्ध्रीपाव आदि। 13वीं सदी में इन्होंने गोरख वाणी का प्रचार-प्रसार किया था। यह एकेश्वरवाद पर बल देते थे, ब्रह्मवादी थे तथा ईश्वर के साकार रूप के सिवाय शिव के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं मानते थे।

नाथ सम्प्रदाय गुरु गोरखनाथ से भी पुराना है। गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय के बिखराव और इस सम्प्रदाय की योग विद्याओं का एकत्रीकरण किया। पूर्व में इस समप्रदाय का विस्तार असम और उसके आस-पास के इलाकों में ही ज्यादा रहा, बाद में समूचे प्राचीन भारत में इनके योग मठ स्थापित हुए। आगे चलकर यह सम्प्रदाय भी कई भागों में विभक्त होता चला गया।

परमाल रासो - इस ग्रन्थ की मूल प्रति कहीं नहीं मिलती। इसके रचयिता के बारे में भी विवाद है। पर इसका रचयिता "महोबा खण्ड" को सं. 1976 वि. में डॉ. श्याम सुन्दर दास ने "परमाल रासो" के नाम से संपादित किया था। डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार यह रचना सोलहवीं शती विक्रमी की हो सकती है। इस रचना के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। श्री रामचरण हयारण "मित्रा" ने अपनी कृति "बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य" में "परमाल रासो" को चन्द की स्वतन्त्र रचना माना है। किन्तु भाषा शैली एवं छन्द में -"महोवा खण्ड" से यह काफी भिन्न है। उन्होंने टीकामगढ़ राज्य के वयोवृद्ध दरवारी कवि श्री "अम्बिकेश" से इस रचना के कठस्थ छन्द लेकर अपनी कृति में उदाहरण स्वरुप दिए हैं। रचना के एक छन्द में समय की सूचना दी गई है, जिसके अनुसार इसे 1115 वि. की रचना बताया गया है, जो पृथ्वीराज एवं चन्द के समय की तिथियों से मेल नहीं खाती। इस आधार पर इसे चन्द की रचना कैसे माना जा सकता है। यह इसे परमाल चन्देल के दरवारी कवि जगनिक की रचना माने तो जगनिक का रासो कही भी उपलब्ध नहीं होता है।

स्वर्गीय महेन्द्रपाल सिंह ने अपेन एक लेख में लिखा है कि जगनिक का असली रासो अनुपलब्ध है। इसके कुछ हिस्से दतिया, समथर एवं चरखारी राज्यों में वर्तमान थे, जो अब नष्ट हो चुके हैं।

पृथ्वीराज रासो - यह कवि चन्द की रचना है। इसमें दिल्लीश्वर पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का विशद वर्णन है। यह एक विशाल महाकाव्य

है। यह तेरहवीं सदीं की रचना है। डा. माताप्रसाद गुप्त इसे 1400 ई. के लगभग की रचना मानते हैं। पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता विवादग्रस्त है।

वीसलदेव रासो - यह रचना पश्चिमी राजस्थान की है। रचना तिथि सं. 1400 ई. के आस-पास की है। इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। रचना वीर गीतों के रुप में उपलब्ध है। इसमें वीसलदेव के जीवन के 12 वर्षों के कालखण्ड का वर्णन किया गया है।

हम्मीर रासो - इस रचना की कोई मूल प्रति नहीं मिलती है। इसका रचयिता शारंगधर माना जाता है। प्राकृत पैगलम में इसके कुछ छन्द उदाहरण के रुप में दिए गये हैं। ग्रन्थ की भाषा हम्मीर के समय के कुछ बाद की लगती है। अत: भाषा के आधार पर इसे हम्मीर के कुछ बाद का माना जा सकता है।

बुत्रा (रासो) इसका रचयिता जल्ह है जिसे पृथ्वीराज रासो का पूरक कवि भी माना गया है। कवि ने रचना में समय नहीं दिया है। इसे पृथ्वीराज रासो के बाद की रचना माना जाता है।

मुंज रास - यह अपभ्रंश की रचना है। इसमें लेखक का नाम कहीं नहीं दिया गया। रचना काल के विषय में कोई निश्चित मत नहीं मिलता। हेमचन्द्र की यह व्याकरण रचना सं. 1190 की है। मुंज का शासन काल 1000 -1054 वि. माना जाता है। इसलिए यह रचना 1054-1190 वि. के बीच कभी लिखी गई होगी। इसमें मुंज के जीवन की एक प्रणय कथा का चित्राण है। कर्नाटक के राजा तैलप के यहाँ बन्दी के रुप में मुंज का प्रेम तैलप की विधवा पुत्री मृणालवती से ही जाता है। मुंज उसको लेकर बन्दीगृह से भागने का प्रस्ताव करता है, किन्तु मृणालवती अपने प्रेमी को वहीं रखकर अपना प्रणय सम्बन्ध निभाना चाहती थी इसलिए उसने तैलप को भेद दे दिया जिसके परिणामस्वरुप क्रोधी तैलप ने मृणालवती के सामने ही उसके प्रेमी मुंज को हाथी से कुचलवाकर मार डाला। कथा सूत्र को देखते हुए रचना छोटी प्रतीत नहीं होती।

खम्माण रासो - इसकी रचना कवि दलपति विजय ने की है। इसे खुमाण के समकालीन अर्थात सं. 790 सं. 890 वि. माना गया है, किन्तु इसकी प्रतियों में राणा संग्राम सिंह द्वितीय के समय 1760-1790 के पूर्व की नहीं होनी चाहिए। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने श्री अगरचन्द नाहटा के एक लेख के अनुसार इसे सं. 1730-1760 के मध्य लिखा बताया गया है।

हम्मीर रासो: इसके रचयिता महेश कवि है। यह रचना जोधराज कृत्त हम्मीर रासो के पहले की है। छन्द संख्या लगभग 300 है इसमें रणथंभौर के राणा हम्मीर का चरित्र वर्णन है।

विजय पाल रासो – नल्ह सिह भाट कृत इस रचना के केवल 42 छन्द उपलब्ध है। विजयपाल, विजयगढ़ करौली के यादव राजा थे। इसके आश्रित कवि के रुप में नल्ह सिह का नाम आता है। रचना की भाषा से यह 17 वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती है।

सन्देश रासक – यह अपभ्रंश की रचना है। रचियिता अब्दुल रहमान हैं। यह रचना मूल स्थान या मुल्तान के क्षेत्र से सम्बन्धित है। कुल छन्द संख्या 223 है। यह रचना विप्रलम्भ शृंगार की है। इसमें विजय नगर की कोई वियोगिनी अपने पति को संदेश भेजने के लिए व्याकुल है तब कोई पथिक आ जाता है और वह विरहिणी उसे अपने विरह जनित कष्टों को सुनाने लगती है। जब पथिक उससे पूछता है कि उसका पति किस ऋतु में गया है तो वह उत्तर में ग्रीष्म ऋतु से प्रारम्भ कर विभिन्न ऋतुओं के विरह जनित कष्टों का वर्णन करने लगती है। यह सब सुनकर जब पथिक चलने लगता है, तभी उसका प्रवासी पति आ जाता है। यह रचना सं 1100 वि. के पश्चात् की है।

कायम रासो – यह रासो "न्यामत खाँ जान" द्वारा रचा गया है। इसका रचना काल सं. 1691 है, किन्तु इसमें 1710 वि. की घटना वाला कुछ अंश प्रक्षिप्त है, क्योंकि यदि कवि इस समय तक जीवित था तो उसने पूर्व तिथि सूचक क्यों बदला। यह वैसा का वैसा ही लिखा है, इसमें राजस्थान के कायमखानी वंश का इतिहास वर्णित है।

शत्रु साल रासो– रचयिता डूंगरसी कवि। इसका रचना काल सं. 1710 माना गया है। छंद संख्या लगभग 500 है। इसमें बूंदी के राव शत्रुसाल का वृत्त वर्णित किया गया है।

आंकण रासो – यह एक प्रकार का हास्य रासो है। इसमें खटमल के जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है। इसका रचयिता कीर्तिसुन्दर है। रचना सं. 1757 वि. की है। इसकी कुल छन्द संख्या 39 है।

सागत सिंह रासो– यह गिरधर चारण द्वारा लिखा गया है। इसमें शक्तिसिंह एवं उनके वंशजों का वृत्त वर्णन किया गया है। श्री अगरचन्द्र श्री अगरचन्द नाहटा इसका रचना काल सं. 1755 के पश्चात् का मानते हैं। इसकी छन्द संख्या 943 है।

राउजैतसी रासो – इस रचना में कवि का नाम नहीं दिया गया है और न रचना तिथि का ही संकेत है। इसमें बीकानेर के शासक राउ जैतसी तथा हुमायूं के भाई कामरान में हुए एक युद्ध का वर्णन हैं जैतसी का शासन काल सं.

1503–1518 के आस–पास रहा है। अत:–यह रचना इसके कुछ पश्चात् की ही रही होगी। इसकी कुल छन्द संख्या 90 है। इसे नरोत्तम स्वामी ने राजस्थान भारतीय में प्रकाशित कराया है।

रासा भगवन्तसिंह – सदानन्द द्वारा विरचित है। इसमें भगवन्तसिंह खीची के 1797 वि. के एक युद्ध का वर्णन है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार यह रचना सं. 1797 के पश्चात् की है। इसमें कुल 100 छन्द है।

करहिया की रासो – यह सं. 1934 की रचना है। इसके रचयिता कवि गुलाब हैं, जिनके 'वंशज माथुर चतुर्वेदी चतुर्भुज वैद्य आंतरी जिला ग्वालियर में निवास करते थे। श्री चतुर्भुज जी के वंशज श्री रघुनन्दन चतुर्वेदी आज भी आन्तरी ग्वालिया में ही निवास करते हैं, जिनके पास इस ग्रन्थ की एक प्रति वर्तमान है। इसमें करहिया के परमारों एवं भरतपुराधीश जवाहरसिंह के बीच हुए एक युद्ध का वर्णन है।

रासो भइया बहादुरसिंह – इस ग्रन्थ की रचना तिथि अनिश्चित है, परन्तु इसमें वर्णित घटना सं. 1853 के एक युद्ध की है, इसी के आधार पर विद्वानों ने इसका रचना काल सं. 1853 के आस–पास बतलाया है। इसके रचयिता शिवनाथ है।

वलपतिराव रायसा – इसके रचयिता कवि जोगींदास भाण्डेरी हैं। इसमें महाराज दलपतिराव के जीवन काल के विभिन्न युद्धों की घटनाओं का वर्णन किया गया है। कवि ने दलपति राव के अन्तिम युद्ध जाजऊ सं. 1764 वि. में उसकी वीरगति के पश्चात् रायसा लिखने का संकेत दिया है। इसलिये यह रचना सं. 1464 की ही मानी जानी चाहिए। रासो के अध्ययन से ऐसा लगता है कि कवि महाराजा दलपतिराव का समकालीन था। इस ग्रन्थ में दलपतिराव के पिता शुभकर्ण का भी वृत्त वर्णित है। अत: यह दो रायसों का सम्मिलित संस्करण है। इसकी कुल छन्द संख्या 313 हैं। इसका सम्पादन श्री हरिमोहन लाल श्रीवास्तव ने किया है, तथा कन्है मालाल मुन्शी, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा ने भारतीय साहित्य के मुन्शी अभिनन्दन अंक में इसे प्रकाशित किया गया है।

शत्रु जीत रायसा – बुन्देली भाषा के इस दूसरे रासे के रचयिता किशुनेश भाट है। इसकी छन्द संख्या 426 है। इस रचना के छन्द 425 वें के अनुसार इसका रचना काल सं. 1858 वि. ठहरता है। दतिया नरेश शत्रु जीत का समय सं. 1819 सं. 1948 वि. तदनुसार सन् 1762 से 1801 तक रहा है। यह रचना महाराजा शत्रुजीत सिंह के जीवन की एक अन्तिम घटना से सम्बन्धित है।

लक्ष्मीबाई रासो – इसके रचयिता पं. मदन मोहन द्विवेदी "मदनेश" है। कवि की जन्मभूमि झाँसी है। इस रचना का संपादन डॉ. भगवानदास माहौर ने किया है। यह रचना प्रयाग साहित्य सम्मेलन की "साहित्य-महोपाध्याय" की उपाधि के लिए भी सवीकृत हो चुकी है। इस कृति का रचनाकाल डॉ. भगवानदास माहौर ने सं. 1961 के पूर्व का माना है। इसके एक भाग की समाप्ति पुष्पिका में रचना तिथि सं. 1961 दी गई है। रचना खण्डित उपलब्ध हुई है, जिसे ज्यों का त्यों प्रकाशित किया गया है। विचित्रता यह है कि इसमें कल्याणसिंह कुड़रा कृत "झांसी कौ रायसो" के कुछ छन्द ज्यों के त्यों कवि ने रख दिये हैं। कुल उपलब्ध छन्द संख्या 349 हैं। आठवें भाग में समाप्ति पुष्पिका नहीं दी गई है, जिससे स्पष्ट है कि रचना अभी पूर्ण नहीं है। इसका शेष हिस्सा उपलब्ध नहीं हो सका है। कल्याण सिंह कुड़रा कृत रासो और इस रासो की कथा लगभग एक सी ही है, पर मदनेश कृत रासो में रानी लक्ष्मीवाई के ऐतिहासिक एवं सामाजिक जीवन का विशद चित्रण मिलता है।

साहित्य के इतिहास के प्रथम काल का नामकरण विद्वानों ने इस प्रकार किया है-

1. डॉ.ग्रियर्सन – चारणकाल,
2. मिश्रबंधुओं – प्रारंभिककाल,
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल- वीरगाथा काल,
4. राहुल संकृत्यायन – सिद्ध सामंत युग,
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी – बीजवपन काल,
6. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – वीरकाल,
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी – आदिकाल,
8. रामकुमार वर्मा – चारण काल।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा है। इस नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़-सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता-धर्म, नीति,श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जबसे मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती

हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरित्रों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परंपरा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है। इसके संदर्भ में वे तीन कारण बताते हैं-

1. इस काल की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी अर्थात् इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रधानता रही है।
2. अन्य जो ग्रंथ प्राप्त होते हैं वे जैन धर्म से संबंध रखते हैं, इसलिए नाम मात्र हैं और
3. इस काल के फुटकर दोहे प्राप्त होते हैं, जो साहित्यिक हैं तथा विभिन्न विषयों से संबंधित हैं, किन्तु उसके आधार पर भी इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं होती है। शुक्ल जी वे इस काल की बारह रचनाओं का उल्लेख किया है-

1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत-सं.1355), 2.हम्मीर रासो (शांगधर कृत-सं.1357), 3. कीर्तिलता (विद्यापति-सं.1460), 4.कीर्तिपताका (विद्यापति-सं. 1460), 5. खुमाण रासो (दलपतिविजय-सं.1180), 6.बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह-सं.1212), 7. पृथ्वीराज रासो (चंद बरदाई-सं.1225-1249), 8.जयचंद्र प्रकाश (भट्ट केदार-सं. 1225), 9. जयमयंक जस चंद्रिका (मधुकर कवि-सं. 1240), 10.परमाल रासो (जगनिक कवि-सं.1230), 11. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो-सं.1350), 12.विद्यापति की पदावली (विद्यापति-सं.1460)

शुक्ल जी द्वारा किये गये वीरगाथाकाल नामकरण के संबंध में कई विद्वानों ने अपना विरोध व्यक्त किया है। इनमें श्री मोतीलाल मैनारिया, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि मुख्य हैं। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि वीरगाथा काल की महत्त्वपूर्ण रचना पृथ्वीराज रासो की रचना उस काल में नहीं हुई थी और यह एक अर्द्ध-प्रामाणिक रचना है। यही नहीं शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नामकरण किया है, उनमें से कई रचनाओं का वीरता से कोई संबंध नहीं है। बीसलदेव रासो गीति रचना है। जयचंद्र प्रकाश तथा जयमयंक जस चंद्रिका -इन दोनों का वीरता से कोई संबंध नहीं है। ये ग्रंथ केवल सूचना मात्र हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों का भी वीरत्व से कोई संबंध नहीं है। विजयपाल रासो का समय मिश्रबंधुओं ने सं.1355 माना है अतः इसका भी वीरता से कोई संबंध नहीं है। परमाल रासो पृथ्वीराज रासो की तरह अर्द्ध प्रामाणिक रचना है तथा इस ग्रंथ का मूल रूप प्राप्य नहीं है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका- इन दोनों ग्रंथों

की रचना विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति के गुणगान के लिए लिखे थे। उनका वीररस से कोई संबंध नहीं है। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण की प्रेम-लीला है। इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन आधार पर इस काल का नामकरण वीरगाथा काल किया है, वह योग्य नहीं है।

डॉ. ग्रियर्सन का मत

डॉ.ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल को चारणकाल नाम दिया है। पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं दे पाये हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ 643 ई. से मानी है, किन्तु उस समय की किसी चारण रचना या प्रवृत्ति का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएं 1000 ई.स. तक मिलती ही नहीं हैं। इसलिए डॉ. ग्रियर्सन द्वारा दिया गया नाम योग्य नहीं है।

मिश्रबंधुओं का मत

मिश्रबंधुओं ने ई.स. 643 से 1387 तक के काल को प्रारंभिक काल कहा है। यह एक सामान्य नाम है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। यह नाम भी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का मत

डॉ.रामकुमार वर्मा- इन्होंने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को चारणकाल नाम दिया है। इस नामकरण के बारे में उनका कहना है कि इस काल के सभी कवि चारण थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि सभी कवि राजाओं के दरबार-आश्रय में रहनेवाले, उनके यशोगान करनेवाले थे। उनके द्वारा रचा गया साहित्य चारणी कहलाता है। किन्तु विद्वानों का मानना है कि जिन रचनाओं का उल्लेख वर्मा जी ने किया है उनमें अनेक रचनाए संदिग्ध हैं। कुछ तो आधुनिक काल की भी हैं। इस कारण डॉ.वर्मा द्वारा दिया गया चारणकाल नाम विद्वानों को मान्य नहीं है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के आदिकाल की कालाविधि सं 750 से 1375 तक मानकर इसे दो भागों में बाँटा है।

1. **संधिकाल** (750 से 1000 वि.) तथा
2. **चरण काल** (1000 से 1375 वि. तक)

उन्होंने संधिकाल में जैन, सिद्ध तथा नाथ साहित्य को व चारनकाल में वीरगाथात्मक रचनाओं को समाविष्ट किया है। संधिकाल दो भाषाओं एवं दो धर्मों का संधियुग है, जो वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य ही है। चारनकाल तथा वीरगाथा काल की भाँति ही दोषपूर्ण है, क्योंकि इस सन्दर्भ में गिनाई गयी चारणों की रचनायें अप्रमाणिक एवं परवर्ती है।

कुछ आलोचकों का ये कहना है की वीरगाथा काव्यों के रचयिता चारण न होकर भाट थे।

राहुल संकृत्यायन का मत

राहुल संकृत्यायन- उन्होंने 8वीं से 13 वीं शताब्दी तक के काल को सिद्ध-सामंत युग की रचनाएं माना है। उनके मतानुसार उस समय के काव्य में दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता मिलती है- **1.सिद्धों की वाणी**- इसके अंतर्गत बौद्ध तथा नाथ-सिद्धों की तथा जैनमुनियों की उपदेशमूलक तथा हठयोग की क्रिया का विस्तार से प्रचार करनेवाली रहस्यमूलक रचनाए आती हैं। **2.सामंतों की स्तुति**- इसके अंतर्गत चारण कवियों के चरित काव्य (रासो ग्रंथ) आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रय दाता राजा एवम् सामंतों की स्तुति के लिए युद्ध, विवाह आदि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रंथों में वीरत्व का नवीन स्वर मुखरित हुआ है। राहुल जी का यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है, क्योंकि इस नामकरण से लौकिक रस का उल्लेख करनेवाली किसी विशेष रचना का प्रमाण नहीं मिलता। नाथपंथी तथा हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- उन्होंने हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नाम बीज-बपन काल रखा। उनका यह नाम योग्य नहीं है क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह काल तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- इन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक काल को आदिकाल नाम दिया है। विद्वान भी इस नाम को अधिक

उपयुक्त मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- वस्तुत: हिंदी का आदि काल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम, मनोभावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक वहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है। आदिकाल नाम ही अधिक योग्य है, क्योंकि साहित्य की दृष्टि से यह काल अपभ्रंश काल का विकास ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल के लक्षण-निरूपण के लिए निम्नलिखित पुस्तकें आधारभूत बतायी हैं–

1.पृथ्वीराज रासो, 2.परमाल रासो, 3.विद्यापति की पदावली, 4.कीर्तिलता, 5.कीर्तिपताका, 6.संदेशरासक (अब्दुल रेहमान), 7.पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण), 8.भविषयत्कहा (धनपाल), 9.परमात्म-प्रकाश (जोइन्दु), 10.बौद्ध गान और दोहा (संपादक पं.हरप्रसाद शास्त्री), 11.स्वयंभू छंद और 12.प्राकृत पैंगलम्।

नाम निर्णय

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल के नामकरण के रूप में आदिकाल नाम ही योग्य व सार्थक है, क्योंकि इस नाम से उस व्यापक पुष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर परवर्ती साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से इस काल के साहित्य में हिंदी के प्रारंभिक रूप का पता चलता है तो भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज इसमें खोजे जा सकते हैं। इस काल की रचना-शैलियों के मुख्य रूप इसके बाद के कालों में मिलते हैं। आदिकाल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। इस कारण आदिकाल नाम ही अधिक उपयुक्त तथा व्यापक नाम है।

सिद्ध साहित्य के इतिहास में चौरासी सिद्धों का उल्लेख मिलता है। सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिये, जो साहित्य जनभाषा मे लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध साहित्य की सीमा मे आता है

सिद्ध सरहपा (सरहपाद, सरोजवज्र, राहुल भ्रद्र) से सिद्ध सम्प्रदाय की शुरुआत मानी जाती है। यह पहले सिद्ध योगी थे। जाति से यह ब्राह्मण थे। राहुल

सांकृत्यायन ने इनका जन्मकाल 769 ई. का माना, जिससे सभी विद्वान सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रंथ बताए जाते हैं, जिनमे से 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं मे प्रसिद्ध है। इन्होने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया तथा गुरू सेवा को महत्त्व दिया।

इनके बाद इनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले प्रमुख सिद्ध हुए हैं क्रमशः इस प्रकार हैं :–

शबरपा–इनका जन्म 780 ई. में हुआ। यह क्षत्रिय थे। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। इनकी कविता का उदाहरण देखिये–

हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला
षुकड़ये सेरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा वाड़ि ताएला
फिटेली अंधारि रे आकासु फुलिआ।।

लुइपा–ये राजा धर्मपाल के राज्यकाल में कायस्थ परिवार में जन्मे थे। शबरपा ने इन्हें अपना शिष्य माना था। चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। उड़ीसा के तत्कालीन राजा और मंत्री इनके शिष्य हो गए थे।

डोम्भिया–मगध के क्षत्रिय वंश में जन्मे डोम्भिया ने विरूपा से दीक्षा ग्रहण की थी। इनका जन्मकाल 840 ई. रहा। इनके द्वारा इक्कीस ग्रंथों की रचना की गई, जिनमें 'डोम्बि-गीतिका', 'योगाचर्या' और 'अक्षरद्विकोपदेश' प्रमुख हैं।

कण्हपा–इनका जन्म ब्राह्मण वंश में 820 ई. में हुआ था। यह कर्नाटक के थे, लेकिन बिहार के सोमपुरी स्थान पर रहते थे। जालंधरपा को इन्होंने अपना गुरु बनाया था। इनके लिखे चौहत्तर ग्रंथ बताए जाते हैं। यह पौराणिक रूढ़ियों और उनमें फैले भ्रमों के खिलाफ थे।

कुक्कुरिपा–कपिलवस्तु के ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। चर्पटीया इनके गुरु थे। इनके द्वारा रचित 16 ग्रंथ माने गए हैं।

3

जैन साहित्य

ऐतिहसिक जानकारी हेतु जैन साहित्य भी बौद्ध साहित्य की ही तरह महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक उपलब्ध जैन साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में मिलतें है। जैन साहित्य के विशेषज्ञ तथा अनुसंधानपूर्ण लेखक अगरचन्द नाहटा थे। जैन साहित्य, जिसे 'आगम' कहा जाता है, इनकी संख्या 12 बतायी जाती है। आगे चलकर इनके 'उपांग' भी लिखे गये। आगमों के साथ-साथ जैन ग्रंथों में 10 प्रकीर्ण, 6 छंद सूत्र, एक नंदि सूत्र एक अनुयोगद्वार एवं चार मूलसूत्र हैं। इन आगम ग्रंथों की रचना सम्भवत: श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो द्वारा महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद की गयी।

बारह आगम इस प्रकार हैं-

1. आचरांग सुत्त, 2. सूर्यकडंक, 3. थापंग, 4. समवायांग, 5. भगवतीसूत्रा, 6. न्यायधम्मकहाओ, 7. उवासगदसाओं, 8. अन्तगडदसाओ, 9. अणुत्तरोववाइयदसाओं, 10. पण्हावागरणिआई, 11. विवागसुयं, और 12 द्वित्रिवाय।

इन आगम ग्रंथो के 'आचरांगसूत्त' से जैन भिक्षुओं के विधि-निषेधों एवं आचार-विचारों का विवरण एवं 'भगवतीसूत्र' से महावीर स्वामी के जीवन-शिक्षाओं आदि के बारे में उपयुक्त जानकारी मिलती है, जो इस प्रकार हैं- 1. औपपातिक, 2. राजप्रश्नीय, 3. जीवाभिगम, 4. प्रज्ञापणा, 5. सूर्यप्रज्ञप्ति, 6. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 7. चन्दप्रज्ञप्ति, 8. निर्यावलिका, 9. कल्पावंतसिका, 10. पुष्पिका, 11. पुष्पचूलिका और 12. वृष्णिदशा।

आगम ग्रंन्थों के अतिरिक्त 10 प्रकीर्ण इस प्रकार हैं- 1. चतु:शरण, 2. आतुर प्रत्याख्यान, 3. भक्तिपरीज्ञा, 4. संस्तार, 5. तांदुलवैतालिक, 6. चंद्रवेध्यक, 7. गणितविद्या, 8. देवेन्द्रस्तव, 9. वीरस्तव और 10.महाप्रत्याख्यान।

छेदसूत्र की संख्या 6 है- 1. निशीथ, 2. महानिशीथ, 3. व्यवहाँर, 4. आचारदशा, 5. कल्प और 6. पंचकल्प आदि।

एक नंदि सूत्र एवं एक अनुयोग द्वारा जैन धर्म अनुयायियों के स्वतंत्र ग्रंथ एवं विश्वकोष हैं।

जैन साहित्य में पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जिन्हें 'चरित' भी कहा जाता है। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखें गयें हैं। इनमें पद्म पुराण, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, इत्यादि उल्लेखनीय हैं। जैन पुराणों का समय छठी शताब्दी से सोलहवीं-सत्रवहीं शताब्दी तक निर्धारित किया गया है।

जैन ग्रंथों में परिशिष्ट पर्व, भद्रबाहुचरित, आवश्यकसूत्र, आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र, कालिकापुराणा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनसे ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना मिलती है।

भारतीय धर्मग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का प्रयोग इतिहास के अर्थ में आता है। कितने विद्वानों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं। इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। इतिहास जहाँ घटनाओं का वर्णन कर निवृत्त हो जाता है वहाँ पुराण उनके परिणाम की ओर पाठक का चित्त आकृष्ट करता है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितान्येव पुराणं पंचलक्षणम

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्पराओं का वर्णन हो, वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं। तात्पर्य यह कि इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्त फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में जहाँ केवल वर्तमान की घटनाओं का उल्लेख रहता है वहाँ पुराण में नायक के अतीत और अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जनसाधारण समझ सके कि

महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग, परोपकार और तपस्याएं करनी पड़ती हैं। मानव के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैन आचार-मीमांसा

जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म (श्रावकाचार) पूर्वार्द्ध है और श्रमण या मुनिधर्म (श्रमणाचार) उत्तरार्द्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थ धर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थ धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग-इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है।

जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म (श्रावकाचार) पूर्वार्द्ध है और श्रमण या मुनिधर्म (श्रमणाचार) उत्तरार्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थ धर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थ धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग-इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम श्रावकाचार का स्वरूप विवेचन आवश्यक है। यद्यपि श्रावक अर्थात् एक सद् गृहस्थ के आचार का कितना महत्त्व है? यह श्रावकाचार विषयक शताधिक बड़े-बड़े प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों की उपलब्धि से ही पता चल जाता है। इसी दृष्टि से अति संक्षेप में यहाँ श्रावकाचार अर्थात् श्रावकों की सामान्य आचार पद्धति प्रस्तुत है-

श्रावकाचारः श्रावकों की आचार-पद्धति

जैन परम्परा में आचार के स्तर पर श्रावक और साधु-ये दो श्रेणियाँ हैं। श्रावक गृहस्थ होता है, उसे जीवन के संघर्ष में हर प्रकार का कार्य करना पड़ता है। जीविकोपार्जन के साथ ही आत्मोत्थान एवं समाजोत्थान के कार्य करने पड़ते हैं। अतः उसे ऐसे ही आचारगत नियमों आदि के पालन का विधान किया गया, जो व्यवहाँर्य हों क्योंकि सिद्धान्तों की वास्तविकता क्रियात्मक जीवन में ही चरितार्थ हो सकती है। इसलिए श्रावकोचित आचार-विचार के प्रतिपादन और परिपालन का विधान श्रावकाचार की विशेषता है। श्रावकाचार आदर्श जीवन के

उत्तरोत्तर विकास की जीवन शैली प्रदान करता है। श्रावकाचार के परिपालन हेत साधु वर्ग सदा से श्रावकों का प्रेरणास्रोत रहा है। वस्तुतः साधु राग-द्वेष से परे समाज का संरक्षक होता है, वह समाज हित में श्रावकों को छोटे-छोटे स्वार्थों के त्याग करने एवं समता भाव की शिक्षा देता है।

संस्कार और उनका महत्त्व

संस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, धार्मिक कृत्य, संस्करण या परिष्करण की क्रिया, प्रभावशीलता, प्रत्यास्मरण का कारण, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव अभिमन्त्रण आदि अनेक अर्थों में होता है। सामान्यतः संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है अर्थात् संस्कार वे क्रियाएं एवं विधियाँ हैं, जो व्यक्ति को किसी कार्य को करने की आधिकारिक योग्यता प्रदान करती हैं। शुचिता का सन्निवेश मन का परिष्कार, धर्मार्थ-सदाचरण, शुद्धि-सन्निधान आदि ऐसी योग्यताऐं हैं, जो शास्त्राविहित क्रियाओं के करने से प्राप्त होती हैं। संस्कार शब्द उन अनेक धार्मिक क्रिया-कलापों को भी व्याप्त कर लेता है, जो शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत आदि के अन्तर्गत आते हैं।

संस्कारों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के पुराणों में संस्कार के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह सत्य है कि संस्कार शब्द सामान्यतया धार्मिक विधि-विधान या क्रिया का ही सूचक है। दिगम्बर जैन परम्परा के आचार्य जिनसेन कृत 'आदिपुराण' में विविध संस्कारों का उल्लेख करते हुए इन्हें तीन भागों में विभाजित किया गया है। उसके अनुसार

गर्भान्वय क्रियाएँ-53,

दीक्षान्वय क्रियाएँ-48, और

कर्तन्वय क्रियाएँ-7 हैं।

इस प्रकार इसमें कुल मिलाकर 108 संस्कारों तक की चर्चा है। श्वेताम्बर जैन परम्परा के वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर' में संस्कारों की चर्चा करते हुए उनकी संख्या 40 बताई गई है, जिनमें से 16 संस्कार गृहस्थों के, 16 संस्कार यतियों के एवं 8 सामान्य संस्कार हैं।

आदिपुराण और उसमें प्रतिपादित संस्कार

संस्कार, वर्ण व्यवस्था आदि का विवेचन आचार्य जिनसेन ने महापुराण के प्रथम भाग अर्थात् आदिपुराण में विस्तार से किया है। वस्तुतः महापुराण के मुख्य दो खण्ड हैं-

1. आदिपुराण और
2. उत्तरपुराण।

सम्पूर्ण आदिपुराण के 47 पर्वों में से 42 पर्व पूर्ण तथा 43वें पर्व के तीन 'लोक तक आठवीं-नवीं शती के भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं और इसके अवशिष्ट पाँच पर्व तथा उत्तरपुराण की रचना जिनसेनाचार्य के बाद उनके प्रमुख शिष्य गुणभद्राचार्य के द्वारा की गई। एक गृहस्थ श्रावक को समाज की मुख्य धारा से अलग हुए बिना नैतिक, आदर्श और संस्कारित जीवन जीने के लिए आचार्य जिनसेन ने संस्कार पद्धति मुख्यतः तीन भागों में विभक्त की-

1. गर्भान्वय क्रिया,
2. दीक्षान्वय क्रिया,
3. क्रियान्वय क्रिया।

गोम्मट पंजिका

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (10वीं शती) द्वारा प्राकृत भाषा में लिखित गोम्मटसार पर सर्वप्रथम लिखी गई यह एक संस्कृत पंजिका टीका है।

इसका उल्लेख उत्तरवर्ती आचार्य अभयचन्द्र ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है।

इस पंजिका की एकामात्र उपलब्ध प्रति (सं0 1560) पं. परमानन्द जी शास्त्री के पास रही।

इस टीका का प्रमाण पाँच हजार श्लोक है।

इस प्रति में कुल 98 पत्र हैं।- गोम्मट पंजिका

गोम्मटसार जीवतत्त्व प्रदीपिका

यह टीका केशववर्णी द्वारा रचित है।

उन्होंने इसे संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में लिखा है।

जैसे-वीरसेन स्वामी ने अपनी संस्कृत प्राकृत मिश्रित धवला टीका द्वारा षट्खंडागम के रहस्यों का उद्घाटन किया है, उसी प्रकार केशववर्णी ने भी

अपनी इस जीवतत्त्व प्रदीपिका द्वारा जीवकाण्ड के रहस्यों का उद्घाटन कन्नड़ मिश्रित संस्कृत में किया है।

जयधवल टीका

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला की पूर्णता के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार्य गुणधर द्वारा विरचित कसायपाहुड की टीका जयधवला का कार्य आरंभ किया और जीवन के अंतिम सात वर्षों में उन्होंने उसका एक तिहाई भाग लिखा। तत्पश्चात् शक सं0 745 में उनके दिवंगत होने पर शेष दो तिहाई भाग उनके योग्यतम शिष्य जिनसेनाचार्य (शक सं0 700 से 760) ने पूरा किया। 21 वर्षों की सुदीर्घ ज्ञानसाधना की अवधि में यह लिखी जाकर शक सं0 759 में पूरी हुई।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने सर्वप्रथम संस्कृत महाकाव्य पार्श्वाभ्युदय की रचना में की थी। इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। उसके पूर्वभाग-'आदिपुराण' के 42 सर्ग ही वे बना पाए थे और दिवंगत हो गए। शेष की पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने की।

जैन साहित्य के क्षेत्र में जैन साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने बीसवीं सदी में एक कीर्तिमान उपस्थित किया है। उन्होंने न्याय- व्याकरण- छंद -अलंकार- सिद्धान्त- अध्यात्म- काव्य- पूजन आदि सभी प्रकार का साहित्य रचा है। उनकी 250 से अधिक पुस्तकें जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर से प्रकाशित हुई हैं। षट्खण्डागम ग्रंथों पर उन्होंने 16 पुस्तकों की सिद्धांतचिन्तामणि नामक संस्कृत टीका लिखकर आचार्य श्री वीरसेनस्वामी की याद को ताजा कर दिया है। वर्तमान युग में संस्कृत टीका लिखने वाली मात्र एक ही साध्वी हैं। इन ग्रंथों की हिन्दी टीका उनकी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने किया है, जिनकी 10 पुस्तकें छप चुकी हैं। उन्हें मँगाकर आप स्वाध्याय कर सकते हैं। संस्कृत की सोलहों पुस्तकें छप चुकी हैं।

जयधवल टीका

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला की पूर्णता के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार्य गुणधर द्वारा विरचित कसायपाहुड की टीका जयधवला का कार्य आरंभ किया और जीवन के अंतिम सात वर्षों में उन्होंने उसका एक तिहाई भाग लिखा। तत्पश्चात् शक सं0 745 में उनके दिवंगत होने पर शेष दो

तिहाई भाग उनके योग्यतम शिष्य जिनसेनाचार्य (शक सं0 700 से 760) ने पूरा किया। 21 वर्षों की सुदीर्घ ज्ञानसाधना की अवधि में यह लिखी जाकर शक सं0 759 में पूरी हुई।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने सर्वप्रथम संस्कृत महाकाव्य पार्श्वाभ्युदय की रचना में की थी। इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। उसके पूर्वभाग-'आदिपुराण' के 42 सर्ग ही वे बना पाए थे और दिवंगत हो गए। शेष की पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने की।

जयधवल टीका का आरंभ वाटपुरग्राम संभवत: बड़ौदा में चन्द्रप्रभुस्वामी के मंदिर में हुआ था। मूल ग्रन्थ 'कषायपाहुड' है, जो गुणधराचार्य द्वारा 233 प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। इस पर यतिवृषभाचार्य द्वारा चूर्णिसूत्र लिखे गये और इन दोनों पर आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने जयधवला व्याख्या लिखी। इस तरह जयधवला की 16 पुस्तकों में मूलग्रन्थ कषायपाहुड इस पर लिखित चूर्णिसूत्र और इसकी जयधवला टीका-ये तीनों ग्रंथ एक साथ प्रकाशित हैं।

जयधवला की भाषा भी धवला टीका की तरह मणिप्रवालन्याय से प्राकृत और संस्कृत मिश्रित है। जिनसेन ने स्वयं इसकी अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है-

प्राय: प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोयं ग्रन्थविस्तररू॥ (37)

जयधवला में दार्शनिक चर्चाएं और व्युत्पत्तियां तो संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। पर सैद्धान्तिक चर्चा प्राकृत में है। किचित ऐसे वाक्य भी मिलते हैं, जिनमें युगपत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। जयधवल की संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाएं प्रसादगुण युक्त और प्रवाहपूर्ण तथा परिमार्जित हैं। दोनों भाषाओं पर टीकाकारों का प्रभुत्व है और इच्छानुसार उनका वे प्रयोग करते हैं। इस टीका का परिमाण 60 हजार 'लोकप्रमाण है। इसका हिन्दी अनुवाद वाराणसी में जैनागमों और सिद्धान्त के महान् मर्मज्ञ विद्वान् सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्दजी शास्त्री ने तथा सम्पादनादि कार्य पं. कैलाश चंद जी शास्त्री ने किया है। इसका प्रकाशन 16 पुस्तकों में, जिनके कुल पृष्ठ 6415 हैं, जैन संघ चौरासी, मथुरा से हुआ है। इसके हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन में 48 वर्ष (ई. 1940 से 1988) लगे।

विषय परिचय

मूलग्रन्थ का नाम कसायपाहुड (कषायप्राभृत) है। इसका दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' है। 'प्रेज्ज' अर्थात् प्रेय का अर्थ है। 'राग' और 'दोस' अर्थात् द्वेष

का अर्थ है शत्रुभाव (शत्रुता)। सारा जगत् इन दोनों से व्याप्त है। इन्हीं दोनों का वर्णन इसमें किया गया है। वीरसेन और जिनसेन ने इसका और इस पर यतिवृषभाचार्य द्वारा लिखे गये चूर्णिसूत्रों का स्पष्टीकरण करने के लिए अपनी यह विशाल टीका जयधवला लिखी है। इसमें 15 अधिकार हैं। वे इस प्रकार हैं-

प्रेय-द्वेष-विभक्ति,
स्थितिविभक्ति,
अनुभाग विभक्ति,
बन्धक,
संक्रम,
वेदक,
उपयोग,
चतु:रूस्थान,
व्यंजन,
दर्शनमोह की उपशामना,
दर्शनमोह की क्षपणा,
देशविरति,
संयम,

चारित्रमोह की उपशमना और चारित्रमोह की क्षपणा। इन अधिकारों के निरूपण के पश्चात् पश्चिमस्कन्ध नामक एक पृथक् अधिकार का भी वर्णन किया गया है। इनका विषय संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

पेज्जदोस विभक्ति

इस अधिकार का यह नाम मूल ग्रन्थ के द्वितीय नाम पेज्जदासपाहुड की अपेक्षा से रखा गया है। इसी से इसमें राग और द्वेष का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अतएव उदय की अपेक्षा मोह का इसमें वर्णन है। चार कषायों में क्रोध और मान द्वेष रूप हैं और माया एवं लोभ प्रेय (राग) रूप हैं। इस अधिकार में इनका बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। विशेषता यह है कि यह अधिकार पुस्तक 1 में पूर्ण हुआ है और न्यायशास्त्र की शैली से इसे खूब पुष्ट किया गया है।

स्थिति विभक्ति

इसमें मोहनीय कर्म की प्रकृति और स्थिति इन दो का वर्णन है। जब मोहनीय कर्म नामक जड़ पुद्गलों का आत्मा के साथ चिपकना-बँधना-एकमेकपना या

संश्लेष सम्बन्ध होता है तब वे कर्म परमाणु आत्मा के साथ कुछ समय टिक कर फिर फल देकर, तथा फलदान के समय आत्मा को विमूढ़ (विमोहित), रागी, द्वेषी आदि रूप परिणत करके आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस मोहनीय कर्म का जो उक्त प्रकार का विमोहित करने वाला रूप स्वभाव है, वह 'प्रकृति' कहलाता है तथा जितने समय वह आत्मा के साथ रहता है वह 'स्थिति' कहा जाता है, उसकी फलदानशक्ति 'अनुभाग' कहलाती है तथा उस कर्म के परमाणुओं की संख्या 'प्रदेश' कहलाती है। प्रकृत अधिकार में प्रकृति और स्थिति का विस्तृत, सांगोपांग एवं मौलिक प्ररूपण है, जो पुस्तक 2,3 व 4 इन तीन में पूरा हुआ है।

अनुभाग विभक्ति

इसके दो भेद हैं-

1. मूल प्रकृति अनुभागविभक्ति और
2. उत्तरप्रकृति अनुभागविभक्ति। इन मूल प्रकृतियों के अनुभाग और उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का पुस्तक 5 में विस्तृत वर्णन है।

प्रदेश विभक्ति

इसके भी दो भेद हैं-

1. मूल और
2. उत्तर। मूल प्रकृति प्रदेश विभक्ति और उत्तर प्रकृति प्रदेश विभक्ति इन दोनों अधिकारों में क्रमशः मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों की संख्या वर्णित है। यह अधिकार पुस्तक 6 व 7 में समाप्त हुआ है। किस स्थिति में स्थित प्रदेश- कर्म परमाणु उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य एवं अयोग्य हैं, इसका निरूपण इस अधिकार में सूक्ष्मतम व आश्चर्यजनक किया गया है। इसके साथ ही उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त, जघन्य स्थिति को प्राप्त आदि प्रदेशों का भी वर्णन इस अधिकार में है।

बन्धक

इसके दो भेद हैं-

1. बन्ध और
2. संक्रम। मिथ्यादर्शन, कषाय आदि के कारण कर्म रूप होने के योग्य कार्मणपुद्गलस्कन्धों का जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह- सम्बन्ध

को बन्ध कहते हैं। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार भेद कहे गये हैं। इनका इस अधिकार में वर्णन है। यह अधिकार पुस्तक 8 व 9 में पूरा हुआ है।

संक्रम

बंधे हुए कर्मों का जीवन के अच्छे-बुरे परिणामों के अनुसार यथायोग्य अवान्तर भेदों में संक्रान्त (अन्य कर्मरूप परिवर्तित) होना संक्रम कहलाता है। इसके प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम, और प्रदेशसंक्रम ये चार भेद हैं। किस प्रकृति का किस प्रकृति रूप होना और किस रूप में न होना प्रकृतिसंक्रम है। जैसे–सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप होना। मिथ्यात्वकर्म का क्रोधादि कषायरूप न होना। इसी तरह स्थितिसंक्रम आदि तीन के सम्बन्ध में भी बताया गया है। इस प्रकार इस अधिकार में संक्रम का सांगोपांग वर्णन किया गया है, जो पुस्तक 8 व 9 में उपलब्ध है।

वेदक

इस अधिकार में मोहनीय कर्म के उदय व उदीरणा का वर्णन है। अपने समय पर कर्म का फल देने को उदय कहते हैं तथा उपाय विशेष से असमय में ही कर्म का पहले फल देना उदीरणा हैं अतः दोनों ही अवस्थाओं में कर्मफल का वेदन (अनुभव) होता है। अतः उदय और उदीरणा दोनों ही वेदक संज्ञा है। यह अधिकार पुस्तक 10 व 11 में समाप्त हुआ है।

उपयोग

इस अधिकार में क्रोधादि कषायों के उपयोग का स्वरूप वर्णित है। इस जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है। किस जीव के कौन-सी कषाय बार-बार उदय में आती है, एक भव में एक कषाय का उदय कितनी बार होता है, एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है, आदि विवेचन विशदतया इस अधिकार में किया गया है। यह अधिकार पुस्तक 12 में पृ0 1 से 147 तक प्रकाशित है।

चतुःसंस्थान

घातिकर्मों की शक्ति की अपेक्षा लता, दारु, अस्थि और शैलरूप 4 स्थानों का विभाग करके उन्हें क्रमशः एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और

चतु:स्थान कहा गया है। इस अधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के उन 4-4 स्थानों का वर्णन है। जैसे-पर्वत, पृथ्वी, रेत तथा पानी में खींची गई लकीरों के समान क्रोध 4 प्रकार का होता है। पर्वतशिला पर पड़ी लकीर किसी कारण से उत्पन्न होकर फिर कभी मिटती नहीं है वैसे ही जीव का अन्य जीव पर हुआ क्रोध का संस्कार इस भव में नहीं मिटता तथा जन्मान्तर में भी वह क्रोध उसके साथ में जाता है, ऐसा क्रोध पर्वतशिला सदृश्य कहलाता है। ग्रीष्मकाल में पृथ्वी पर हुई लकीर पृथ्वी का रस क्षय होने से वह बन जाती है, पुन: वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह मिट जाती है। इसी तरह जो क्रोध चिरकाल तक रहकर भी पुन: किसी दूसरे निमित्त से या गुरु उपदेश से उपशांत हो जाता है वह पृथ्वी सदृश्य क्रोध कहलाता है। रेत में खींची गई रेखा हवा आदि से मिट जाती है। वैसे ही हैं जो क्रोध मंदरूप से उत्पन्न होकर गुरु उपदेश रूप पवन से नष्ट हो जाता है। वह रेतसदृश्य क्रोध है। जल में लगड़ी आदि से खींची गई रेखा जैसे-बिना उपाय से उसी समय मिट जाती है वैसे ही जो क्षणिक क्रोध उत्पन्न होकर मिट जाता है वह जलसदृश्य कहलाता है। इसी तरह माल, माया और लोभ भी 4-4 प्रकार के होते हैं। इन सबका विवेचन इस अधिकार में विस्तारपूर्वक किया गया है। यह अधिकार पुस्तक 12, पृष्ठ 149 से 183 में समाप्त हुआ है।

व्यंजन

इस अधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के पर्यायवाची शब्दों को बताया गया है। यह अधिकार पुस्तक 12 पृ0 184 से 192 तक है।

दर्शनमोहोपशामना

इसमें दर्शनमोहनीय कर्म की उपशामना का वर्णन है। यह पुस्तक 12, पृष्ठ 193 से 328 तक है।

दर्शनमोहनीयक्षपणा

इसमें दर्शनमोहनीयकर्म का जीव किस तरह नाश करता है इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जीव को दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने में कुल अन्तर्मुहूर्त काल ही लगता है। पर उसकी तैयारी में दीर्घकाल लगता है। दर्शनमोह की क्षपणा करने वाला मनुष्य (जीव द्रव्य से पुरुष) एक भव में अथवा

अधिक से अधिक आगामी तीन भवों में अवश्य मुक्ति पा लेता है। यह अधिकार पुस्तक 13 पृष्ठ 1 से 103 में वर्णित है।

देशविरत

इस अधिकार में देशसंयमी अर्थात् संयमी (पंचय गुणस्थान) का वर्णन है। यह अधिकार पुस्तक 13, पृष्ठ 105 से 156 में पूरा हुआ है।

संयम

संयम को संयमलब्धि के रूप में वर्णित किया गया है। यह किस जीव को प्राप्त होती है वह बाहर से नियम से दिगम्बर (नग्न) होता है तथा अन्दर आत्मा में उसके मात्र संज्वलनकषायों का ही उदय शेष रहता है। शेष तीन चौकड़ियों का नहीं। संयमा-संयम लब्धि से ज्यादा यह संयमलब्धि मुमुक्षु के लिए अनिवार्य रूप में उपादेय है। यह अधिकार पुस्तक 13, पृष्ठ 157 से 187 तक है।

आगम

आगम एक संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ होता है- 'ज्ञान का अर्जनष। यह शास्त्र साधारणतया 'तंत्रशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रसंगानुसार 'आगम' भारत के किसी भी धर्म, मत या परंपरा के धर्मग्रंथ या अधिकृत उद्धरण से संदर्भित हो सकता है। कभी-कभी वर्तमान जीवन या पूर्व जीवन में किसी व्यक्ति द्वारा सचेतन या प्राकृतिक रूप से अर्जित ज्ञान के लिए भी 'आगम' शब्द का उल्लेख किया जाता है। निगमागममूलक भारतीय संस्कृति का आधार जिस प्रकार निगम (=वेद) है, उसी प्रकार आगम (=तंत्रा) भी है। दोनों स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे के पोषक हैं। निगम कर्म, ज्ञान तथा उपासना का स्वरूप बतलाता है तथा आगम इनके उपायभूत साधनों का वर्णन करता है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी' (योगभाष्य की व्याख्या) में 'आगम' को व्युत्पत्ति इस प्रकार की है :-

आगच्छंति बुद्धिमारोहंति अभ्युदयनिः श्रेयसोपाया यस्मात, स आगमः।

आगम का मुख्य लक्ष्य 'क्रिया' के ऊपर है, तथापि ज्ञान का भी विवरण यहाँ कम नहीं है। 'वाराहीतंत्रा' के अनुसार आगम इन सात लक्षणों से समवित होता है :-

1. सृष्टि,
2. प्रलय,
3. देवतार्चन,
4. सर्वसाधन,
5. पुरश्चरण,
6. षट्कर्म, (=शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण)
7. साधन तथा ध्यानयोग।

'महानिर्वाण' तंत्र के अनुसार कलियुग में प्राणी मेध्य (पवित्र) तथा अमेध्य (अपवित्र) के विचारों से बहुधा हीन होते हैं और इन्हीं के कल्याणार्थ महादेव ने आगमों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया। इसीलिए कलियुग में आगम की पूजापद्धति विशेष उपयोगी तथा लाभदायक मानी जाती है–

कलौ आगमसम्मतः।

भारत के नाना धर्मों में आगम का साम्राज्य है। जैन धर्म में मात्रा में न्यून होने पर भी आगमपूजा का पर्याप्त समावेश है। बौद्ध धर्म का वज्रयान इसी पद्धति का प्रयोजक मार्ग है। वैदिक धर्म में उपास्य देवता की भिन्नता के कारण इसके तीन प्रकार हैं–

1. वैष्णव आगम (पाँचरात्र तथा वैखानस आगम),
2. शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धांत, त्रिक आदि) तथा
3. शाक्त आगम

द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत की दृष्टि से भी इनमें तीन भेद माने जाते हैं। अनेक आगम वेद मूलक हैं, परंतु कतिपय तंत्रों के ऊपर बाहरी प्रभाव भी लक्षित होता है। विशेषतः शाक्तागम के कौलाचार के ऊपर चीन या तिब्बत का प्रभाव पुराणों में स्वीकृत किया गया है। आगमिक पूजा विशुद्ध तथा पवित्र भारतीय है। 'पंच मकार' के रहस्य का अज्ञान भी इसके विषय में अनेक भ्रमों का उत्पादक है। (ब.अ.)

व्याख्या

'ब्राह्मणवाद' या हिन्दू धर्म में 'आगम' आमतौर पर वेद और स्मृति को कहा जाता है। बौद्ध धर्म में यह 'त्रिपिटक', जैन धर्म में 'अंग' और कुछ उपांग की ओर इंगित करता है। लेकिन इस शब्द का अधिक निकट संबंध उन धार्मिक-दार्शनिक परंपराओं से है, जो किसी समय में वेद आधारित परंपरा से

अलग माने गए हैं। इसके फलस्वरूप कभी-कभी निगम, श्रुति और वेदों से आगम की भिन्नता को भी दर्शाया जाता है। विशेष रूप से 'आगम' मध्यकालीन भारत के हिन्दू तांत्रिक लेखों में से किसी वर्ग से संबद्ध हो सकता है, जो शैव मत के अनुयायियों का पवित्र साहित्य है। इस प्रकार की आगम रचनाओं को प्राय: अधिक सैद्धांतिक तथा गूढ़ शास्त्रों से अलग समझा जाता है। शैव मत में ये सर्वप्रमुख हैं और संकीर्ण अर्थों में ये वैष्णव संहिताओं तथा शाक्त तंत्रों के समान हैं। ये ज्यादातर भगवान शिव और उनकी पत्नी पार्वती के बीच संवाद के रूप में है। इनका आविर्भाव संभवत: आठवीं शताब्दी में हुआ था। वैचारिक सुविधा के लिए विद्वान् इन्हें चार शैव मतों में बाँटते हैं-

1. शैवसिद्धांत का संस्कृत मत
2. तमिल शैव
3. कश्मीरी शैव
4. वीरशैव (जो 'लिंगायत' भी कहलाता है)

धार्मिक विधि-विधान का स्रोत

'आगम' मंदिर निर्माण, मूर्ति निर्माण तथा धार्मिक विधि-विधान के बारे में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। अधिकांश हिंदू धार्मिक साहित्य के समान यह साहित्य न तो भलि-भांति सूचीबद्ध है और न ही इसका विस्तृत अध्ययन किया गया है। आगमी शैवों (शिव के उपासक, जो अपने आगम यानी पारंपरिक साहित्य का अनुसरण करते हैं) के संप्रदायों में शैव मत की दार्शनिक भूमिका और निष्कर्षों को स्वीकार करने वाले उत्तरी क्षेत्र के संस्कृत शैव सिद्धांत मतावलंबी और दक्षिण भारत के 'लिगांयत' या 'वीरशैव' (वीर, शब्दार्थ नायक, शिवलिंग भगवान शिव का प्रतीक है और प्रतिमा के स्थान पर इसी की पूजा जाती है) शामिल हैं।

शैव सिद्धांत

पारंपरिक रूप से शैव सिद्धांत में 28 आगम और 150 उप-आगम हैं। मुख्य पाठ का काल निर्धारित करना कठिन है। संभवत: वे आठवीं शताब्दी से पहले के नहीं हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, शिव इस संसार के चेतन सिद्धांत हैं, जबकि पदार्थ अचेतन है। देवी के रूप में मानवीकृत शिव की शक्ति बंधन और मुक्त प्रदान करती है। शक्ति एक चमत्कारी 'शब्द' (मंत्र) भी है, जिसके द्वारा

ध्यान लगाकर शिव की प्रकृति को जानने का प्रयत्न किया जा सकता है। कश्मीरी शैव मत की शुरुआत शिव के नए स्वरूप 'शिव सूत्र' या शिव से संबंधित सूत्रों (लगभग 850 ई.) से हुई। इसमें 'सोमनंद' (950 ई.) के 'शिवदृष्टि' (शिव की दृष्टि) को विशेष महत्त्व दिया गया है, जिसमें शिव की सतत पहचान पर बल दिया गया है, यह संसार शक्ति के माध्यम से शिव का प्रकटीकरण है। इस पद्धति को 'त्रिक' (त्रायी) कहते हैं, क्योंकि इसमें शिव, शक्ति और वैयक्तिक आत्मा के तीन सिद्धांतों को मान्यता दी गई है।

वीरशैव ग्रंथ

वीरशैव ग्रंथों की शुरुआत लगभग 1150 में बसव के 'वचनम' (वचन) से हुई। यह मत शुद्धतावादी है और इनमें केवल शिव की आराधना की जाती है। इसने सामाजिक संगठन को स्वीकारा और सामाजिक वर्ग व्यवस्था को नकारा जाता है तथा यह मठों व गुरुओं के माध्यम से अत्यंत संयोजित है।

जैन आगम

श्आगम' शब्द का जैन धर्म में विशिष्ट स्थान है। जैन साहित्य के दो विभाग हैं, आगम और आगमेत्तर। केवल ज्ञानी, मनपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, चतुर्दशपूर्व के धारक तथा दशपूर्व के धारक मुनियों को आगम कहा जाता है। कहीं कहीं नवपूर्व के धारक को भी आगम माना गया है। भगवान महावीर के उपदेश जैन धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, जिन्हें 'आगम' कहा जाता है। वे अर्द्ध-मागधी प्राकृत भाषा में हैं। उन्हें आचारांगादि बारह 'अंगों' में संकलित किया गया, जो 'द्वादशांग आगम' कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं की भाँति जैन आगम भी पहले श्रुत रूप में ही थे। महावीर के बाद भी कई शताब्दियों तक उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था। 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' शाखाओं में जहाँ अनेक बातों में मतभेद था, वहीं आगमों को लिपिबद्ध न करने में दोनों एक मत थे। कालांतर में उन्हें लिपिबद्ध तो किया गया, किन्तु लिखित रूप की प्रमाणिकता इस धर्म के दोनों संप्रदायों को समान रूप से स्वीकृत नहीं हुई। श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार समस्त आगमों के छः विभाग हैं-

1. 'अंग'
2. 'उपांग'
3. 'प्रकीर्णक'

4. 'छेदसूत्रा'
5. 'सूत्रा'
6. 'मूलसूत्रा'

जब तक आगम बिहारी मुनि विद्यमान थे, तब तक इनका इतना महत्त्व नहीं था, क्योंकि तब तक मुनियों के आचार-व्यवहाँर का निर्देशन आगम मुनियों द्वारा मिलता था। जब आगम मुनि नहीं रहे, तब उनके द्वारा रचित आगम ही साधना के आधार माने गए और उनमें निर्दिष्ट निर्देशन के अनुसार ही जैन मुनि अपनी साधना करते हैं।

जैन धर्म में 'एकादश अंग सूत्र' सबसे प्राचीन माने जाते हैं। दिगम्बर संप्रदाय उपयुक्त आगमों को नहीं मानता है। इस संप्रदाय का मत है, अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् आगमों का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था।

आगम साहित्य भी दो भागों में विभक्त है– अंगप्रविष्ट और अंगबाहा। अंगों की संख्या 12 है। उन्हें गणिपिटक या द्वादशांगी भी कहा जाता है–

1- आचारांग 5- भगवती 9 -अनुतरोपपातिकदशा
2- सूत्राकृतांग 6- ज्ञाता 10- प्रश्न व्याकरण
3- स्थानांग 7- उपासक दशांग 11- विपाक
4- समवायांग 8- अंतकृत दशा 12- दृष्टिवाद

इनमें दृष्टिवाद का पूर्णत: विच्छेद हो चुका है, शेष ग्यारह अंगों का भी बहुत सा अंग विच्छित हो चुका है।

जैन ग्रंथ

जैन साहित्य बहुत विशाल है। अधिकांश में वह धार्मिक साहित्य ही है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में यह साहित्य लिखा गया है।

भगवान महावी रस्वामी की प्रवृत्तियों का केंद्र मगध रहा है, इसलिए उन्होंने यहाँ की लोकभाषा अर्द्धमागधी में अपना उपदेश दिया जो उपलब्ध जैन आगमों में सुरक्षित है। ये आगम 45 हैं और इन्हें श्वेतांबर जैन प्रमाण मानते हैं, दिगंबर जैन नहीं। दिंगबरों के अनुसार आगम साहित्य कालदोष से विच्छिन्न हो गया है। दिगंबर षट्खंडागम को स्वीकार करते हैं, जो 12वें अंगदृष्टिवाद का अंश माना गया है। दिगंबरों के प्राचीन साहित्य की भाषा शौरसेनी है। आगे चलकर अपभ्रंश तथा अपभ्रंश की उत्तरकालीन लोक-भाषाओं में जैन पंडितों ने अपनी रचनाए लिखकर भाषा साहित्य को समृद्ध बनाया।

आदिकालीन साहित्य में जैन साहित्य के ग्रन्थ सर्वाधिक संख्या में और सबसे प्रमाणिक रूप में मिलते हैं। जैन रचनाकारों ने पुराण काव्य, चरित काव्य, कथा काव्य, रास काव्य आदि विविध प्रकार के ग्रंथ रचे। स्वयंभू, पुष्प दंत, आचार्य हेमचंद्रजी, सोमप्रभ सूरीजी आदि मुख्य जैन कवि हैं। इन्होंने हिंदुओं में प्रचलित लोक कथाओं को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया और परंपरा से अलग उसकी परिणति अपने मतानुसार दिखाई।

आगम-साहित्य की प्राचीनता

जैन-साहित्य का प्राचीनतम भाग 'आगम' के नाम से कहा जाता है। ये आगम 46 हैं-

(क) **12 अंग**—आयारंग, सूयगडं, ठाणांग, समवायांग, भगवती, नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अनुत्तरोववाइयदसा, पण्हवागरण, विवागसुय, दिठ्ठवाय।

(ख) **12 उपांग**—ओवाइय, रायपसेणिय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरियपन्नति, जम्बुद्दीवपन्नति, निरयावलि, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा।

(ग) **10 पइन्ना**—चउसरण, आउरपचक्खाण, भत्तपरिन्ना, संथर, तंदुलवेयालिय, चंदविज्झय, देविंदत्थव, गणिविज्जा, महापंचक्खाण, वोरत्थव।

(घ) **6 छेदसूत्रा**—निसीह, महानिसीह, ववहाँर, आचारदसा, कप्प (बृहत्कल्प), पंचकप्प।

(च) **4 मूलसूत्रा**—उत्तरज्झयण, आवस्सय, दसवेयालिय, पिंडनिज्जुति। नंदि और अनुयोग।

आगम ग्रन्थ काफी प्राचीन है, तथा जो स्थान वैदिक साहित्य क्षेत्र में वेद का और बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन साहित्य में आगमों का है। आगम ग्रन्थों में महावीर स्वामी के उपदेशों तथा जैन संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथा-कहानियों का संकलन है।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर निर्वाण (ई. सन् के पूर्व 527) के 160 वर्ष पश्चात् (लगभग ई. सन् के 367 पूर्व) मगध देशों में बहुत भारी दुष्काल पड़ा, जिसके फलस्वरूप जैन भिक्षुओं को अन्यत्र विहाँर करना पड़ा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर श्रमण पाटलिपुत्र (पटना) में एकत्रित हुए और यहाँ खण्ड-खण्ड करके ग्यारह अंगों का संकलन किया गया, बारहवाँ अंग किसी को स्मरण नहीं था, इसलिए उसका संकलन न किया जा सका। इस सम्मेलन को 'पाटलिपुत्रा-वाचना' के नाम से जाना जाता है। कुछ समय पश्चात् जब आगम

साहित्य का फिर विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद (ई. सन् के 300-313 में) जैन साधुओं के दूसरे सम्मेलन हुए। एक आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में तथा दूसरा नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में वल्लभी में।

मथुरा के सम्मेलन को 'माथुरी-वाचना' की संज्ञा दी गयी है। तत्पश्चात् लगभग 150 वर्ष बाद, महावीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद (ई. सन् 453-466 में) वल्लभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में साधुओं का चौथा सम्मेलन हुआ, जिसमें सुव्यवस्थित रूप से आगमों का अन्तिम बार संकलन किया गया। यह सम्मेलन 'वलभी-वाचना' के नाम से जाना जाता है। वर्तमान आगम इसी संकलना का रूप है।

जैन आगमों की उक्त तीन संकलनाओं के इतिहास से पता लगता है कि समय-समय पर आगम साहित्य को काफी क्षति उठानी पड़ी, और यह साहित्य अपने मौलिक रूप में सुरक्षित नहीं रह सका।

महत्त्व

ईसा के पूर्व लगभग चौथी शताब्दी से लगाकर ई. सन् पाँचवी शताब्दी तक की भारतवर्ष की आर्थिक तथा सामाजिक दशा का चित्रण करने वाला यह साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्त्व का है। आचारांग, सूयगड, उत्तराध्ययन सूत्रा, दसवैकालिक आदि ग्रन्थों में जो जैन भिक्षुओं के आचार-विचारों का विस्तृत वर्णन है, और डॉ. विण्टरनीज आदि विद्वानों के कथानानुसार वह श्रमण-काव्य का प्रतीक है। भाषा और विषय आदि की दृष्टि से जैन आगमों का यह भाग सबसे प्राचीन मालूम होता है।

भगवती कल्पसूत्रा, ओवाइय, ठाणांग, निरयावलि आदि ग्रन्थों में श्रमण भगवान महावीर, उनकी चर्या, उनके उपदेशों तथा तत्कालीन राजा, राजकुमार और उनके युद्ध आदि का विस्तृत वर्णन है, जिससे जैन इतिहास की लुप्तप्राय अनेक अनुश्रुतियों का पता लगता है। नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अन्तगडदसा, अनुत्तरोववाइयदसा, विवागसुय आदि ग्रन्थों में महावीर स्वामीजी द्वारा कही हुई अनेक कथा-कहानियाँ तथा उनकी शिष्य-शिष्याओं का वर्णन है, जिसमें जैन परम्परा सम्बन्धी अनेक बातों का परिचय मिलता है। रायपणेसिय, जीवाभिगम, पन्नवणा आदि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्रा, संगीत, वनस्पति आदि सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन है, जो प्रायः अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

छेदसूत्रों में साधुओं के आहार-विहाँर तथा प्रायश्चित आदि का विस्तृत वर्णन है, जिसकी तुलना बौद्धों के विनयपिटक से की सकती है। वृहत्कल्पसूत्र (1-50) में बताया गया है कि जब भगवान महावीर साकेत (अयोध्या) सुभुमिभाग नामक उद्यान में विहाँर करते थे तो उस समय उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों को साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक दक्षइ के कौशाम्बी तक, तथा उत्तर में कुणाला (उत्तरोसल) तक विहाँर करने की अनुमति दी। इससे पता लगता है कि आरम्भ में जैन धर्म का प्रचार सीमित था, तथा जैन श्रमण मगध और उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे। निःसन्देह छेदसूत्रों का यह भाग उतना ही प्राचीन है, जितने स्वयं महावीर।

तत्पश्चात् राजा कनिष्क के समकालीन मथुरा के जैन शिलालेखों में भिन्न-भिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख है, वह भद्रवाहु के कल्पसूत्र में वर्णित गण, कुल और शाखाओं के साथ प्रायः मेल खाता है। इससे भी जैन आगम ग्रन्थों की प्रामाणिकता का पता चलता है। वस्तुतः इस समय तक जैन परम्परा में श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद नहीं मालूम होता। जैन आगमों के विषय, भाषा आदि में जो पालि त्रिपिटक से समानता है, वह भी इस साहित्य की प्राचीनता को द्योतित करती है।

पालि-सूत्रों की अट्ठकथाओं की तरह आगमों की भी अनेक टीका-टिप्पणियाँ, दीपिका, निवृत्ति, विवरण, अवचूरि आदि लिखी गयी हैं। इस साहित्य को सामान्यता निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका-इन चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है, आगम को मिलाकर इसे 'पांचांगी' के नाम से कहते हैं। आगम साहित्य की तरह यह साहित्य भी बहुत महत्त्व का है। इसमें आगमों के विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस साहित्य में अनेक अनुश्रुतियाँ सुरक्षित हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वृहत्कल्पभाष्य, व्यवहाँरभाष्य, निशीथचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका, उत्तराध्ययन टीका आदि टीका-ग्रन्थों में पुरातत्त्व सम्बन्धी विविध सामग्री भरी पड़ी है, जिससे भारत के रीति-रिवाज, मेले त्यौहार, साधु-सम्प्रदाय, दुष्काल, बाढ़, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, शिल्प, कला, भोजन-शास्त्रा, मकान, आभूषण, आदि विविध विषयों पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

लोक-कथा और भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी यह साहित्य बहुत महत्त्व का है। डा. विण्टरनीज के शब्दों में-

जैन टीका–ग्रन्थों में भारतीय प्राचीन–कथा साहित्य के अनेक उज्वल रत्न विद्यामान हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।

चूर्णि–साहित्य में प्राकृत मिश्रित संस्कृत का उपयोग किया गया है, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है, और साथ यह उस महत्त्वपूर्ण काल का द्योतक है जब जैन विद्वान प्राकृत का आश्रय छोड़कर संस्कृत भाषा की ओर बढ़ रहे थे।

राजस्थानी जैन साहित्य

ख्यात साहित्य की परम्परा के जैसे–ही, राजस्थान के इतिहास के लिए जैन साहित्य का भी विशेष महत्त्व है। यह साहित्य जैन मुनियों, आचार्यों तथा श्रावकों द्वारा लिखा गया मूलत: जैन धर्म के उपदेशों की विवेचना, तीर्थंकरों की महत्ता, जैन मंदिरों के उत्सव, संघ यात्राओं के इत्यादि से सम्बन्धित है। किन्तु इससे कई ऐतिहासिक सूचनाओं का भी ज्ञान प्राप्त होता है। राजस्थान के प्रत्येक गाँव और नगर में जैन श्रावकों का निवास है, अत: लगभग सभी स्थानों पर जैन मंदिर एवं उपासकों में जैन साधुओं का आवागमन रहता है। वर्षा के चार महीनों में साधु जन एक ही स्थान पर रहते हुए चतुर्मास व्यतीत करते हैं। जहाँ वे समय का सदुपयोग चिन्तन, मनन और प्रवचन में करते हैं। चिन्तन मनन के साथ–साथ उनमें साधु लेखन–पठन का कार्य भी करते हैं। ऐसा लेखन दो प्रकार को होता है–

(1) प्राचीन जैन ऋषियों की प्रतिलिपि करना
(2) निज अनुभव अन्य धार्मिक सामाजिक प्रक्रियाओं को आलेखाबद्ध करना।

इस प्रकार दोनों ही प्रकार के लेखन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से तत्कालीन परिस्थितियों का समावेश हो जाना स्वाभाविक रहता है। यद्यपि इसमें कई बार श्रुति–परम्परा के कारण 'इतिहास–भ्रम' की सम्भावनाएं भी रहती है, पर इतिहास–बोध की दृष्टि से इनकी तथ्यपरकता इन्हें प्रमाणिक–साधन के समकक्ष रख देती है। सम्वत् तिथि एवं बार की सूचनाओं के रुप में उपासकों में रचित साहित्य राजस्थान ही नहीं वरन् भारतीय इतिहास की कई अनुमानित ऐतिहासिक घटनाओं की गुत्थियों को खोलने में सक्षम है। जैन मुनियों के पंच महाव्रतों में झूठ नहीं बोलने का एक व्रत है अत: जो कुछ उन्होंने देखा, सुना और परम्परा से प्राप्त हुआ, उसे उसी रुप में लिखने का भी प्रयत्न किया।

जैनाचार्य एवं मुनियों को वैसे भी किसी राजा को, अधिकारी को या कर्मचारी को प्रसन्न करने के लिए सच्ची घटनाओं को छिपाने और कल्पित बातों को जोड़ने की आवश्यकता नहीं थी, इसीलिए अन्य कवियों और लेखकों की अपेक्षा इनके ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

तीर्थाटन और स्थान भ्रमण करते हुए जैन यात्रियों द्वारा राज्य, प्रांत, नगर, गाँव, राजा, सामन्त, मंत्री, जैन एवं जैनेत्तर धार्मिक त्यौहार-उत्सव, जाति गोत्र आदि कई बातों का समावेश उनकी स्मृति में उत्कीर्ण हो जाता था एवं लेखन में विकीर्ण। इसीलिए जिनालय संग्रहित साहित्य को ऐतिहासिक सूचनाओं में महत्त्वपूर्ण साधन कहना एक ऐतिहासिक सत्य है।

प्राप्त जैन साहित्य भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी के अतिरिक्त गुजराती एवं कन्नड़ भाषा में लिखा गया है।

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखे गए चरित या चरियउ में तीर्थकरों की स्तुति, गुरु उपासना अथवा साहित्यिक-नायक पर उद्धत कोई संदेश मुख्य विषय होता है। पर इनमें इतिहास के लिए भी सामग्री मिल जाती है, जैसे–श्री कल्कासूरि चरितम अथवा कल्काचार्य कथानक से ज्ञात होता है कि 57 इस्वी पूर्व शक नामक आक्रमणकारी जाति ने पश्चिम मालवा में राजस्थान के भू-भाग होते हुए प्रवेश किया था।

इसी प्रकार मुनि जिन विजय द्वारा सम्पादित प्राचीन जैन ग्रन्थ प्रभावक चरित मालवा क्षेत्र के अन्तर्गत राजस्थान के भू-भाग की सूचना प्रदान करता है।

'आवश्यक सूत्र नियुक्ति' जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखी गई थी, इसकी टीका जो 1141 ई. में पुनः सृजन की गई, में तत्कालीन राजस्थान के राजनीतिक जीवन ही नहीं वरन् सामाजिक-आर्थिक जीवन के विविध पक्षों का अच्छा उल्लेख करती है। 'विमल सूरि' के प्राकृत में लिखे गए ग्रन्थ 'पद:मचरिय' से 12वीं शताब्दी राजस्थान मुख्यतः जैसलमेर क्षेत्र के बारे में ज्ञात होता है यद्यपि इसका मूल ईसा की तीसरी सदी है। 7वीं ईस्वी तक ऐसे ही कई सूचनापरक जैन ग्रंथ अभी भी पूर्णतः खोज के विषय हैं।

चित्तौड़ क्योंकि प्राचीनकाल से ही जैनाचार्यो में आवागमन का मुख्य केन्द्र रहा था अतः यहाँ के एक प्रमुख जैन विद्वान एलाचार्य की शिष्य परम्परा में मुनी वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, लोकसेन आदि द्वारा कई ग्रन्थ रचे गए थे। इनके लिखे ग्रंथों में मुख्यतः 'जयधवला टीका' 'गध कथामृतक' तथा उत्तर पुराण हैं। इनमें प्राचीन राष्ट्रकूट या राठौड़ वंश के शासकों का इतिहास मिलता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि चित्तोड़ निवासी थे जिनका कार्यक्षेत्र भीनमाल रहा। इन्होंने 'समराच्य कहा' एवं 'धूर्तारन्यान' की रचना की थी। 987 ई. के लगभग लिखे इन ग्रन्थों में राजस्थान के जनजीवन के विविध पक्षों का वर्णन उपलब्ध होता है। 'समराच्य कहा' को 1267 ई. के लगभग पुनः प्रद्युमन सूरि द्वारा संक्षिप्त रुप में लिखा गया। इसमें पृथ्वीराज चौहान कालीन प्रशासनिक एवं आर्थिक व्यवस्था का कथावस्तु के अन्तर्गत उल्लेख किया हुआ प्राप्त होता है।

778 ई. में जालोर में लिखी गई अन्य प्राकृत जैन रचना 'कुवलय माला कहा' भी प्रतिहार शासक वत्सराज के शासन और समाज का वर्णन करती है। उद्योतन सूरि द्वारा लिखी इस कहा अर्थात कथा में राजस्थान की धार्मिक दशा पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। चन्द्रप्रभ सूरिकृत 'प्रभावक चरित' तथा बप्पभट्टि प्रबन्ध में भी प्रतिहार शासकों के इतिहास पर टिप्पणियां उपलब्ध होती है। यह ग्रंथ नवीं शताब्दी में लिखे गए थे। परम्परा कालीन राजस्थान पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में जिनप्रभ सूरि द्वारा प्रणित 'तीर्थकल्प' या विविध तीर्थ कल्प, मुनि चन्द्र का 'अमर अरित' (1148 ई.) के नाम लिए जा सकते हैं।

12वीं शताब्दी के बधावणा-गीत से जैन साहित्य में प्रबन्ध-काव्य, फागु, चौपाई, उपलब्ध होने लगते हैं। विषय की दृष्टि से फागु में वसन्त ऋतु का स्वागत पूजा आदि का चित्रण, बधावणा-गीत में स्वागत के गीत उल्लेखित रहते हैं। इन स्रोतों में जैन इतिहास के साथ-साथ सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिए अच्छ विवरण प्राप्त होते हैं।

इसी सदी की जैन रास रचनाओं में 1232 ई. में लिखा गया पाल्हण कृत नेमि जिणद रासो या आबू रास ऐतिहासिक सामग्री के लिए उपयोगी है। इस रासों में आबू में विमल मंत्री द्वारा बनवाए गए ऋषभदेव के मंदिर सहित सोलंकी नरेश लूण प्रसाद के मंत्री वास्तुपाल एवं तेजपाल द्वारा विभिन्न मंदिरों के निर्माण, जिर्णोद्धार एवं प्रतिमा-प्रतिष्ठा का वर्णन किया गया है।

14वीं शताब्दी में महावीर रास (वि.सं. 1339), जिन चद्र सूरि वर्णना रास आदि मुख्य है। इन रासों में दिल्ली सुल्तान कुतुबद्दीन का वर्णन आता है।

15वीं शताब्दी में समयप्रभ गणि द्वारा लिखा गया 'श्री जिनभद्र सूरि गुरुराज पट्टाभिषेक रास' में जैन समाज की धार्मिक प्रक्रियाओं के वर्णन में मेवाड़ के शासक राणा लाखा (1382 ई. से 1421 ई.) के शासन पर भी प्रकाश डालता है।

वि.सं. 1445 अर्थात् 1388 ई. में चाँद कवि ने भट्टारक देव सुन्दर जी रास एवं 15वीं शताब्दी में संग्रहित जिनवर्द्धन सूरि रास में आचार्य परम्परा के साथ ही राजस्थान के कुछ नगरों का वर्णन प्राप्त होता है।

रासों साहित्य के अतिरिक्त काव्य प्रबन्ध, चौपाई, विवाहलो आदि साहित्य विद्या के अन्तर्गत लिखी हुई ऐतिहासिक साहित्य कृतियों में चौहान के इतिहास हेतु 15वीं शताब्दी (1403 ई.) का ग्रंथ हमीर महाकाव्य मुख्य है। यह काव्य नयन चन्द्र सूरि द्वारा रणथम्भोर के चौहान शासकों के बारे में लिखा गया था।

वि.सं. 1742/1785 ई. में लिखी गई 'भीम चौपाई' की रचना कीर्तिसागर सूरि के एक शिष्य ने की थी। दक्षिणी राजस्थान की रियासत डूंगरपुर के शासक जसवन्त सिंह की रानी, डूंगरपुर के गांव जो चौपाई के अनुसार 3500 थे, का उल्लेख, आसपुर के जागीरदार का उल्लेख, धुलेव अर्थात ऋषभदेव की यात्रका वर्णन आदि विषय इस कृति में सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह चौपाइ इतिहास के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जैन-साहित्य में आचार्यादि द्वारा रचे गये गीतों का भी सूचनापरक महत्त्व है, एक ओर गीत जहाँ प्राचीन घटनाओं की ऐतिहासिक जानकारी के बहुत बड़े साधन है, वहाँ दूसरी ओर तात्कालिक परिस्थितियों पर लोक हृदय की समीक्षा का विवरण भी इन गीतों में मिल जाता है।

इस प्रकार निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जैन साहित्य विवरणात्मक धार्मिक साहित्य की श्रेणी में आते हुए भी ऐतिहासिक सूचनाओं के लिए अच्छे साधन हैं।

आदिकाल की जैन काव्य धारा के कवि और उनकी रचनाए–

आदिकालीन जैन साहित्य

जैन कवियों द्वारा लिखे गए ग्रंथ 'रास' काव्य परम्परा के अंतर्गत आते हैं। इन ग्रन्थों में जैन धर्म से जुड़े व्यक्तिओं को ही चरित-नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सर्वाधिक 'चरित काव्य' जैन साहित्य में ही रचे गए। इन ग्रंथों एवं कवियों का मूल उद्देश्य धर्म तत्त्व का निरूपण करना है। धर्म प्रचार के साथ इन ग्रन्थों में नीति निरूपण भी मिलता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कि 'रास' ग्रंथो के प्रमुख कथानक श्रोत 'जैन पुराण' हैं। इन 'रास' ग्रन्थों में जैन तीर्थकरों के जीवन-चरित तथा वैष्णव-अवतारों की कथाएं जैन आदर्शों के आवरण में पद्यबद्य की गई हैं। 'रासो' ग्रन्थों की तरह इन ग्रन्थों में भी छन्दों की विविधता दिखाई

पड़ती है। इन ग्रन्थों की भाषा 'अपभ्रंश' है। जैन (रास) साहित्य मुक्तक एवं प्रबंध दोनों काव्य रूपों में मिलता है। अधिकतर जैन साहित्य का विकास मध्यदेश के पश्चिमोत्तर में हुआ।

जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

परिचय

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक कविता में लिखा है-

अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
निर्बल है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।।

अर्थ- किसी भी देश का गौरव वहाँ के साहित्य भण्डार से आंका जाता है, यह बात कवि की पंक्तियों से स्पष्ट हो रही है।

हमारा भारत देश सदा-सदा से साहित्य का प्रमुख समृद्ध केन्द्र रहा है। यहाँ के ऋषि-मुनियों ने प्राणीमात्र के हित को दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर सारगर्भित एवं सर्वजन सुलभ साहित्य की रचना की है। सत् साहित्य को पढ़ने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान को मनीषियों ने सच्चे प्रकाश की उपमा देकर अज्ञानता को महान् अंधकार के रूप में बताया है।

कन्फ्यूशियस ने भी एक जगह लिखा है-

"Ignorance is night of the mind, but a night without moon and stars"

अर्थात् ''अज्ञानता मन की वह अंधेरी रात है, जिसमें न चाँद हैं न तारे'' ऐसी अंधेरी दुनिया में महापुरुषों द्वारा बताई या लिखी गई बातें ही हमारे लिए प्रकाश देने का कार्य करते हैं। उनके द्वारा लिखी गई एक-एक पंक्ति कभी-कभी महान जीवनदायिनी बन जाती है। जैसे-कि-

एक कहानी

एक प्रसिद्ध कवि भारवी की जीवन्त काव्य रचना के विषय में घटना सुनी जाती है कि-बिहार के धनपुर पट्टी नामक गाँव में एक झोपड़ी में रहने वाले भारवी कवि कविता आदि का लेखन किया करते थे। एक दिन उनकी पत्नी बहुत नाराज हुई और उनसे बोली कि, आपके इस लेखन से हमें क्या लाभ है ? इधर हमारे परिवार में भोजन का ठिकाना नहीं है, और आप हैं कि

हर समय लिखने में लगे रहते हैं। अरे! कुछ और काम-धन्धा करो, जिससे परिवार का पालन हो। कवि भारवी पत्नी की बात सुनकर पहले तो कुछ चिन्ता में डूब गए पुनः चिन्तन करके उन्होंने पत्नी को एक ताड़पत्र पर श्लोक लिखकर दिया और उससे कहा-देवि! तुम बाजार में जाकर इसे बेचकर पैसे ले आओ।

कवि की पत्नी ने बाजार में जाकर उस श्लोक को एक सुनार के हाथों बेच दिया। सुनार ने वे पंक्तियाँ अपने घर में टाँग दिया। वे पंक्तियाँ इस प्रकार थीं-

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय॥

पुनः एक बार वह सुनार विदेश में धन कमाने चला गया, उसकी पत्नी को उस समय तीन मास का गर्भ था। उसने 9 माह बाद पुत्र को जन्म दिया और उसका लालन-पालन करके बड़ा किया। लगभग 15-16 वर्ष बाद जब सुनार वापस अपने घर लौटा तो अपनी पत्नी के पास पलंग पर एक नौजवान को सोता देखकर क्रोध में आग बबूला हो गया और पत्नी तथा नौजवान को जान से मारने के लिए उसने तलवार निकाल ली, किन्तु तुरन्त उसकी दृष्टि कमरे में टंगे दोहे की पंक्ति पर पड़ी अतः पत्नी को जगाकर उससे पूछा कि यह नौजवान कौन है? कहाँ से आया है ? कब से तेरे पास रहता है ? आदि। पत्नी ने कहा-स्वामी! यह तो आपका पुत्र है। क्या आपको याद नहीं है कि आप मुझे गर्भवती अवस्था में छोड़कर गये थे ? अब तो देखो, यह बेटा जवानी की ओर बढ़ रहा है। पुत्र ने तुरन्त अपने पिता के चरण स्पर्श किये और परिवार का मिलन हो गया। सुनार को अपने पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तब उस सुनार को कवि की अमूल्य पंक्तियों पर बहुत श्रद्धा हो गई। उसने पत्नी और पुत्र से कहा कि-आज भारवी कवि की इन पंक्तियों ने हमारे परिवार की रक्षा कर दी, अन्यथा गलत-फहमी का शिकार बनकर मेरे हाथ से आज आप दोनों की हत्या हो जाती और हमारा परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता। अर्थात् भारवी कवि की वे पंक्तियाँ सार्थक होकर जीवन निर्माण के लिए उपयोगी हो गईं।

आगे चलकर उस सुनार ने भारतीय लेखकों के साहित्य का खूब प्रचार-प्रसार किया है। साहित्य का यह चमत्कार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को चमत्कृत कर सकता है।

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का योगदान

भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही जैन साहित्य का भी बड़ा विशाल योगदान रहा है। हमारे अनेक लोकोपकारी जैनाचार्यों ने अपने जीवन का बहुभाग सर्वजनहितकारक साहित्य की रचना में व्यतीत किया है।

जैनधर्म में बड़े-बड़े प्रकाण्ड जैनाचार्य हो गए हैं, जो प्रबल तार्किक, वैयाकरण, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने जैनधर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी अपनी लेखनी के जौहर दिखलाये हैं। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मन्त्र-तन्त्र, वास्तु, वैद्यक आदि-आदि अनेक विषयों पर काफी मात्रा में प्राचीन जैन साहित्य आज भी उपलब्ध है जबकि बहुत सारा साहित्य धार्मिक द्वेष, लापरवाही तथा अज्ञानता के कारण नष्ट हो चुका है।

आज जो जैन साहित्य उपलब्ध है वह सब भगवान् महावीर की उपदेश परम्पराओं से सम्बद्ध है। भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी थे। इनका मूल नाम इन्द्रभूति था, ये जाति से ब्राह्मण थे और वेद-वेदांग में पारंगत थे। जब केवलज्ञान हो जाने पर भी भगवान् महावीर की वाणी नहीं खिरी तो इन्द्र को चिन्ता हुई। इसका कारण जानकर वह इन्द्रभूति ब्राह्मण विद्वान के पास गया और युक्ति से उन्हें भगवान् महावीर के समवसरण में ले आया। समवसरण में पहुँचते होते ही इन्द्रभूति ने जैन दीक्षा ले ली और भगवान् के प्रधान गणधर हुए। भगवान का उपदेश सुनकर अवधारण करके इन्होंने द्वादशांग श्रुत की रचना की। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों को अवधारण करके बारह अंग और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। जो इन अंगों और पूर्वों का पारगामी होता है। जैनधर्म में उसे श्रुतकेवली कहा जाता है। जैन परम्परा में ज्ञानियों में दो ही पद सबसे महान गिने जाते हैं-प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवल ज्ञानी का और परोक्षज्ञानियों में श्रुतकेवली का। जैसे–केवलज्ञानी भगवान समस्त चराचर जगत को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं वैसे ही श्रुतकेवली महामुनि शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्ट जानते हैं। जब कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातः भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन सायंकाल में गौतम स्वामी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके 12 वर्ष पश्चात् गौतम स्वामी को भी निर्वाणपद प्राप्त हुआ।

दिगम्बर जैन साहित्य

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवलज्ञानी (गौतमगणधर, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी) हुए और उनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमें

से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके समय में मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब ये अपने संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये और फिर लौटकर नहीं आये। अत: दुर्भिक्ष के पश्चात् पाटलीपुत्र में भद्रबाहु स्वामी की अनुपस्थिति में जो अंग साहित्य संकलित किया गया वह एकपक्षीय था। मूल या दूसरे पक्ष ने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दुर्भिक्ष के समय जो साधु मगध में ही रहे थे, सामयिक कठिनाइयों के कारण वे अपने आचार में शिथिल हो गये थे। यहीं से जैन संघ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ और जिनधर्म (दिगम्बर) को भी सम्प्रदाय कहा गया और दोनों का सम्प्रदायों का साहित्य भी पृथक्-पृथक् हो गया।

श्रुतकेवली भद्रबाहु इस युग के अंतिम श्रुतकेवली माने गये हैं, जो सम्पूर्ण द्वादशांग के ज्ञाता थे। उनके पश्चात् ग्यारह अंग और दस पूर्वों के ज्ञाता आचार्य हुए। फिर पाँच आचार्य केवल ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पूर्वों का ज्ञान एक तरह से नष्ट ही हो गया और छुट-पुट ज्ञान बाकी रह गया। फिर चार आचार्य केवल प्रथम आचारांग के ही ज्ञाता हुए और अंग ज्ञान भी समाप्तप्राय हो गया। इस तरह कालक्रम से विच्छिन्न होते-होते वीर निर्वाण से 683 वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वों के शेष बचे ज्ञान के भी लुप्त होने का प्रसंग उपस्थित हुआ, तब गिरनार पर्वत पर स्थित आचार्य श्री धरसेन मुनिवर ने पुष्पदन्त और भूतबली नाम के दो सर्वोत्तम साधुओं को अपना शिष्य बनाया जिन्होंने शट्खण्डागम नाम के सूत्र ग्रन्थ की रचना प्राकृत भाषा में की।

श्रुतधर-शास्त्रों को लिखने वाले आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम लेखक आचार्य कौन हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर इतिहासकारों ने बड़े आदर से महान आचार्यश्री गुणधर देव का नाम लिया है। श्रीगुणधर और धरसेन ये दोनों आचार्य श्रुत के प्रतिष्ठापकरूप से प्रसिद्ध हुए हैं फिर भी गुणधरदेव, धरसेनाचार्य की अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे और लगभग उनके दो सौ वर्ष पूर्व हो चुके हैं ऐसा विद्वानों का अभिमत है अतएव आचार्य गुणधर को दिगम्बर परम्परा में लिखितरूप से प्राप्त श्रुत का प्रथम श्रुतकार माना जा सकता है। धरसेनाचार्य ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, जब कि गुणधराचार्य ने पेज्जदोसपाहुड ग्रन्थ की रचना की है।

ये गुणधराचार्य किनके शिष्य थे इत्यादि रूप से इनका परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, तो भी उनकी महान कृति से ही उनकी महानता जानी जाती है। यथा-

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोर्न पूर्वापरक्रमो *स्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्॥
(इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतार)

गुणधर और धरसेन की पूर्वापर गुरु परम्परा हमें ज्ञात नहीं है क्योंकि इसका वृत्तांत न तो हमें किसी आगम में मिला और न किसी मुनि ने ही बतलाया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रनंदि आचार्य के समय तक आचार्य गुणधर और धरसेन का गुरु शिष्य परम्परा का अस्तित्त्व स्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था फिर भी इतना स्पष्ट है कि श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित संघों में ''गुणधर संघ'' का नाम आया है। नंदिसंघ की प्राकृत पदावली में अर्हद्बलि का समय वीर नि.सं. 556 अथवा वि. सं. 95 है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणधर देव अर्हद्बलि के पूर्ववर्ती हैं, पर कितने पूर्ववर्ती हैं, यह निर्णयात्मकरूप से नहीं कहा जा सकता। यदि गुणधर की परम्परा को ख्याति प्राप्त करने में सौ वर्ष का समय मान लिया जाए तो षट्खंडागम के प्रवचनकर्ता धरसेनाचार्य से कसायपाहुड़ के प्रणेता गुणधराचार्य का समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

श्रीगुणधराचार्य को पाँचवे ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त था जबकि षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के प्रणेताओं को उक्त ग्रन्थों की उत्पत्ति के आधारभूत ''महाकम्मपयडिपाहुड'' का आंशिक ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस प्रकार से गुणधराचार्य ने ''कसायपाहुड़'' जिसका अपरनाम ''पेज्जदोसपाहुड'' भी है, उसकी रचना की है। 16000 पद प्रमाण कसायपाहुड़ के विषय को संक्षेप से एक सौ अस्सी गाथाओं में ही पूर्ण कर दिया है।

पेज्ज नाम प्रेयस् या राग का है और दोस नाम द्वेष का है। चूँकि क्रोधादि चारों कषायों में माया, लोभ को रागरूप से और क्रोध, मान को द्वेषरूप से, ऐसे ही नव नोकषायों का विभाजन भी राग और द्वेषरूप में किया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल नाम पेज्जदोसपाहुड है और उत्तर नाम कसायपाहुड है। कषायों की विभिन्न अवस्थाओं का एवं इनसे छूटने का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है अर्थात् किस कषाय के अभाव से सम्यकदर्शन की उत्पत्ति होती है, किस कषाय के क्षयोपशम आदि से देशसंयम और सकलसंयम की प्राप्ति होती है, यह बतला करके कषायों की उपशमना और क्षपणा का विधान किया गया है। तात्पर्य

यही है कि इस ग्रन्थ में कषायों की विविध जातियां बतला करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना गाथासूत्रों में की गई है। आचार्य गुणधरदेव स्वयं कहते हैं-''वोच्छामि सुत्तगाहा जपिगाहा जम्मि अत्थम्मि'' जिस अर्थाधिकार में जितनी-जितनी सूत्र गाथायें प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा। इस ग्रन्थ में कुल 233 गाथायें हैं, जिन्हें ''कसायपाहुड'' सुत्त की प्रस्तावना में पं. हीरालाल जी ने श्रीगुणधराचार्य रचित ही माना है, अर्थात् 53 गाथाओं में विवाद होकर भी गुणधराचार्य रचित ही निर्णय मान्य होता है।

''इस प्रकार के उपसंहृत एवं गाथासूत्र निबद्ध द्वादशांग जैन वांग्मय के भीतर अनुसंधान करने पर यह ज्ञात हुआ है कि कसायपाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है। इससे प्राचीन अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।''

कषायप्राभृत

कषायप्राभृत ग्रंथ आचार्य परम्परा से आर्यमंक्षु और नागहस्ति नाम के आचार्यों को प्राप्त हुआ। उनसे सीखकर यतिवृषभ नामक आचार्य ने उन पर वृत्तिसूत्र रचे, जो प्राकृत में हैं और 6000 श्लोक प्रमाण हैं। यहाँ ध्यान रहे कि 32 अक्षर के एक अनुष्टुप् छन्द का 1 श्लोक कहा है, सो उस प्रकार से 6000 श्लोक प्रमाण संख्या कही है।

अन्य ग्रन्थ

ईसा की प्रथम शताब्दी में कुन्दकुन्द नाम के एक महान् आचार्य हुए हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि विदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ था। इनके, नियमसार, रयणसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाम के ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय इन्होंने 84 प्राभृतों की रचना की है जिनमें से अष्टपाहुड़ ग्रंथ में आठ प्राभृत उपलब्ध हैं।

इनके शिष्य उमास्वामी नाम के आचार्य थे, जिन्होंने जैनावांग्मय को संस्कृत सूत्रों में निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नाम के ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के दस अध्यायों में जीव आदि सात तत्त्वों का सुन्दर विवेचन किया गया है। अपने-अपने धर्मों में गीता, कुरान और बाइबिल को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनधर्म में तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ को प्राप्त है। दिगम्बर और श्वेताम्बर भी इसे समान रूप से मानते हैं। दोनों ही परम्पराओं के आचार्यों ने इसके ऊपर अनेक टीकाएँ

रची हैं, जिनमें पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि एवं अकलंकदेव का तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दि आचार्य का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक उल्लेखनीय हैं। दोनों ही वार्तिकग्रन्थ संस्कृत में बड़ी ही प्रौढ़ शैली में रचे गये हैं और जैनदर्शन के अपूर्व ग्रन्थ हैं।

दर्शन और न्यायशास्त्र में स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन की रचनाए उल्लेखनीय हैं। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा नाम का एक ग्रन्थ रचा है, जिसमें स्याद्वाद का सुन्दर विवेचन करते हुए इतर दर्शनों की विचारपूर्ण समीक्षा की गयी है। इस आप्त-मीमांसा पर स्वामी अकलंकदेव ने 'अष्टशती' नामक ग्रंथ रचा है और अष्टशती को मिला-मिलाकर स्वामी विद्यानन्द आचार्य ने आप्तमीमांसा की कारिकाओ पर अष्टसहस्री नाम की टीका रची है। अष्टसहस्री इतनी गहन है कि इसको समझने में इतने कष्ट का अनुभव होता है कि आचार्यदेव ने स्वयं इसे कष्ट सहस्री कहा है। इस अत्यन्त कठिन ग्रन्थ का सन् 1969-70 में पू. गणिनी प्रमुख आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने सरल हिन्दी में अनुवाद करके विद्वत् जगत के मस्तक को गौरवान्वित किया है।

पुराण साहित्य

पुराण साहित्य में महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रन्थों का नाम उल्लेखनीय है। जैन पुराणों का मूल प्रतिपाद्य विषय 63 शलाका-पुरुषों के चरित्र हैं। इनमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव (नारायण) और 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) हैं। जिनमें पुराण पुरुषों का पुण्यचरित्र वर्णन किया गया हो उसे पुराण कहते हैं। हरिवंशपुराण में बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और नव में नारायण श्री कृष्ण का वर्णन करते हुए कौरव और पाण्डवों का वर्णन है और पद्मपुराण में आठवे बलभद्र श्रीरामचन्द्र एवं नारायण लक्ष्मण का वर्णन है। इस तरह से ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः जैन महाभारत और जैन रामायण कहे जाते हैं। इनके सिवा चरित ग्रन्थों का तो जैन साहित्य में भण्डार भरा है। सकलकीर्ति आदि आचार्यों ने अनेक चरित ग्रन्थ रचे हैं।

अन्य साहित्य

इसके सिवा ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी जैनाचार्यों की अनेक रचनाए आज उपलब्ध हैं। ज्योतिष साहित्य में केवल ज्ञान प्रश्न चूड़ामणि और आयुर्वेद में उग्रा दित्य

आचार्य का कल्याणकारक ग्रन्थ आया है। व्याकरण में पूज्यपाद देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण और शाकटायन का शाकटायन व्याकरण उल्लेखनीय है। कोष में धनंजय नाममाला, और विश्वलोचन कोश, अलंकार में अलंकार चिन्तामणि, गणित में महावीर गणितसार संग्रह और राजनीति में सोमदेव का नीतिवाक्यामृत आदि स्मरणीय हैं।

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि दक्षिण और कर्नाटक का जितना जैन साहित्य है वह सब ही दिगम्बर जैन विद्वानों की रचना है। तथा जिनधर्म के जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हैं, वे प्रायः सब ही कर्नाटक देश के निवासी थे और वे न केवल संस्कृत और प्राकृत के ही ग्रन्थकर्ता थे, किन्तु कन्नड़ भाषा के भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे।

तमिल भाषा का साहित्य भी प्रारम्भ काल से ही जैनधर्म और जैनसंस्कृति से प्रभावित है। 'कुरल' और 'नालदियार' नाम के दो महान् ग्रन्थ उन जैनाचार्यों की कृति हैं, जो तमिल देश में बस गये थे।

गुजराती भाषा में भी दिगम्बर जैनकवियों ने अनेक रचनाए की हैं, जिनका विवरण 'जैनगुर्जर कवियों' से प्राप्त होता है।

दिगम्बर जैन साहित्य में हिन्दी ग्रन्थों की संख्या भी बहुत है। इधर लगभग 400 वर्षों में अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में रचे गये हैं। जैन श्रावक के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना आवश्यक है। अतः जन-साधारण की भाषा में जिनवाणी को निबद्ध करने की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही होती आयी है। इसी से हिन्दी जैन साहित्य में गद्यग्रन्थ बहुतायत से पाए जाते हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दी से लेकर हिन्दी गद्य ग्रन्थ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं और इसलिए हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वालों के लिए वे बड़े काम के हैं।

पद्य साहित्य

पद्यसाहित्य में पं. दौलतरामजी का छहढाला जैन-सिद्धान्त को अमूल्य रत्न है। पं. टोडरमलजी, पं. दौलतरामजी, पं. सदासुख, पं. बुधजन, पं. द्यानतराय, भैया भगवतीदास पं. जयचन्द आदि अनेक विद्वानों ने अपने समय की ढुंढारी हिन्दी भाषा में गद्य अथवा पद्य अथवा दोनों में अपनी रचनाएं की है। विनती, पूजापाठ, धार्मिक भजन आदि भी पर्याप्त हैं। पद्य साहित्य में भी अनेक पुराण और चरित रचे गये हैं।

हिन्दी जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शान्तरस और वैराग्यरस की सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत और प्राकृत के जैन ग्रन्थकारों के समान हिन्दी जैनग्रन्थकारों का भी एक ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयों के द्वन्द्व से निकलकर अपने को पहचाने और अपने उत्थान का प्रयत्न करे। इसी लक्ष्य को रखकर सबने अपनी-अपनी रचनाएं की हैं।

यह तो हुआ भगवान महावीर के शासन में लगभग दो हजार वर्षों के मध्य हुए आचार्य, विद्वान् कवि आदि लेखकों में कतिपय साहित्य रचनाकारों के कृतित्व का संक्षिप्त परिचय। पुनश्च इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए बीसवीं-इक्कीसवीं सदी भी जैन साहित्य से अत्यन्त समृद्ध हुई है।

जैन साहित्य के निर्माण में अर्वाचीन आचार्यों का योगदान

उनमें बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर महाराज के विद्वान् शिष्य आचार्य श्री सुधर्मसागर महाराज, आचार्य श्री कुंथुसागर महाराज द्वारा सुधर्म श्रावकाचार, चौबीस तीर्थकर स्तुति आदि प्रौढ़ ग्रंथ रचे गये हैं। आचार्य श्रीपायसागर जी के शिष्य भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण महाराज ने धर्मामृत, णमोकार आदि ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज ने संस्कृत काव्य साहित्य एवं हिन्दी टीकानुवाद आदि कार्य किये हैं। इसी प्रकार अन्य आचार्य-मुनिराज आदि की भी कतिपय साहित्यिक रचनाए संस्कृत-हिन्दी-प्राकृत में गद्य-पद्य दोनों तरह की प्राप्त होती हैं।

वर्तमान समय में भी आचार्य-उपाध्याय-मुनि-आर्यिका आदि अपनी रत्नत्राय साधना के साथ ज्ञानाराधना के क्षेत्र में वृहत् मात्रा में साहित्य लेखन करते देखे जा रहे हैं। इनमें कुछ अत्याधुनिक जनभाषा में जिनधर्म प्रभावना का साहित्य लिखते हैं तो कुछ प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रौढ़ भाषा में जनहितकारी स्वाध्याय के ग्रंथ लिखकर प्रदान करते हैं। आचार्य श्री विद्यानंदिजी, आचार्य श्री विद्यासागर जी, आचार्य श्री कनकनंदी जी, आचार्य श्री पुष्पदंत सागर जी, आचार्य श्री विरागसागर जी आदि कतिपय विशिष्ट आचार्यों की साहित्यिक कृतियाँ भी वर्तमान की उपलब्धि हैं तथा अनेकानेक उपाध्याय-मुनिराजों के भी लेखन समाज में प्रचलित हैं।

जैन साध्वियों का साहित्य निर्माण में योगदान

इसी शृंखला में दिगम्बर जैन साध्वियों द्वारा साहित्य लेखन का शुभारम्भ किया पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने। इन्होंने समयसार आदि अनेकानेक संस्कृत ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ लिखीं, जैनभारती आदि मौलिक ग्रंथ लिखे, पूजा-विधानों में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम जैसे-विधानों ने तो सम्पूर्ण जैन समाज में चमत्कार फैला दिया है। बालक-युवा, नारी-प्रौढ़-विद्वान् सभी के हित को ध्यान में रखकर 250 से अधिक शास्त्र लिखे तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक सूत्राग्रन्थ षट्खण्डागम के 16 ग्रन्थों की ''सिद्धान्तचिंतामणि'' नाम की संस्कृत टीका 3200 पृष्ठों में लिखकर कीर्तिमान स्थापित कर दिया है।

उनका अनुसरण करती हुई अन्य अनेक साध्वियों ने भी ग्रंथ लेखन किये हैं जिनमें आर्यिका श्री जिनमती माताजी, आर्यिका श्री आदिमती माताजी (पू. ज्ञानमती माताजी की शिष्याएँ), गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी, आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी आदि के नाम प्रमुख हैं। मुझे भी पूज्य माताजी की प्रेरणा से षट्खण्डागम की हिन्दी टीका करने का सौभाग्य मिला तथा कतिपय छोटे-बड़े साहित्य गुरुकृपा से मेरे द्वारा सृजित हुए हैं।

जैन साहित्य के निर्माण में विद्वानों का योगदान

जैन समाज का विद्वतवर्ग तो अपनी लेखनी सदा-सर्वदा की भाँति आज भी चला ही रहा है। प्राचीन विद्वानों में पं. लालाराम जी शास्त्री मुरैना (महापुराण के अनुवादक), पं. खूबचन्द शास्त्री, पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर, पं. इन्द्रलाल शास्त्री, पं. मोतीचंदजी कोठारी, पं. कैलाशचन्द सिद्धान्ताचार्य, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, पं. लालबहादुर शास्त्री, पं. बाबूलाल जमादार, पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री, पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, पं. ए. एन. उपाध्याय, पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने साहित्य की अपूर्व सेवा की है।

इन सभी के द्वारा सम्पादित-अनुवादित-लिखित साहित्य का इस इनसाइक्लोपीडिया में यथासंभव समावेश किया जाएगा।

हमारे पाठकगण इसमें संग्रहीत साहित्य को पढ़कर यदि अपने ज्ञान में वृद्धि कर सके, अपने अनुसंधान में सहयोग ले सके और जैनधर्म के विषयों पर पी. एच. डी.-डी. लिट् आदि उपाधियों के रिसर्च कार्य में इनका उपयोग कर सकें तो यह जैनधर्म का विश्वकोष वास्तव में सार्थकता को प्राप्त होगा।

जैन साहित्य के प्रमुख कवि एवं विशेषताएं:-

जिस प्रकार हिंदी के क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार किया उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने अपने मत का प्रचार किया। इसकी मुख्य दो शाखाएं हैं। एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। श्वेताम्बर जैन साधुओं कवियों विद्वानों का इस समय का क्षेत्र राजस्थान और गुजरात रहा है। महामानव बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी अपने धर्म का प्रचार लोक भाषा के माध्यम से किया है। इसी प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक सिद्धांतों का ज्ञान अपभ्रंश में प्राप्त हुआ। जैन मुनियोंने अपभ्रंश भाषा में प्रचुर मात्रा में रचनाए लिखी है, जो धार्मिक है। वैसे तो जैन उत्तर भारत में जहाँ तहाँ फैले रहे। किँतु आठवीं से 13 वी शताब्दी तक काठियावाड़ गुजरात में इनकी प्रधानता रही है। वहाँ के चालुक्य राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इनका पर्याप्त प्रभाव रहा।

महावीर स्वामी का जैन धर्म हिंदू धर्म के अधिक समीप है। जैनों के यहाँ भी परमात्मा तो है, पर वह सृष्टि का नियामक न होकर चित्त और आनंद का स्रोत है। उनका संसार से कोई संबंध नहीं प्रत्येक मनुष्य अपनी साधना और पुरुष से परमात्मा बन सकता है। इन्होंने जीवन में अहिंसा, त्याग, करुणा, दया का महत्त्वपूर्ण स्थान बताया है।

जैन मुनियों ने अपभ्रंश में प्रचुर मात्रा में रचनाएं लिखी, जो धार्मिक है। इनमें संप्रदाय की रीति-नीति का पद्यबद्ध उल्लेख है। अहिंसा, कष्ट, सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार की बातों का इनमें वर्णन है। जैन साहित्य में पुरान साहित्य, चरित काव्य, कथा काव्य एवं रहस्यवादी काव्य भी लिखे गए हैं। पुराण संबंधी आख्यानों के रचियेताओं में स्वयंभू, पुष्पदंत, हरिभद्र सूरि, विनय चंद्र सूरी, धनपाल, जोइंदु तथा राम सिंह का विशेष स्थान है। जैन ग्रंथों में देवसेन कृत 'श्रावकाचार' 'दर्शन सार' स्वयंभू कृत 'ब्रह्मचर्य ' आदि प्राचीन जैन काव्य माने जाते हैं। जैन रासक या रास काव्य परंपरा में 'भरतेश्वर बाहुबली रास' 'स्थूलि भद्रा रास' विजयसेन सूरी का 'रेवंतगिरी रास' उल्लेखनीय है। इन सभी में स्वयंभू को प्रथम जैन कवि माना जाता है।

जैन कवि एवं उनकी रचना का संक्षिप्त परिचय

(1) श्रावकाचार - देवसेन

जैन ग्रंथों में सर्वप्रथम ग्रंथ देव से कृत श्रावकाचार 936 ईस्वी का माना जाता है। देवसेन एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के विद्वान थे। इनका अपभ्रंश

का एक काव्य मिलता है। हिंदी के अन्य रचनाओं में 'लघुमय चक्र और 'दर्शन सार' 'श्रावकाचार' में 250 दोहे हैं। उसमें श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ग्रहस्थ धर्म का विस्तार से विवेचन मिलता है। इसकी रचना दोहा छंद में ही है।

(2) भरतेश्वर बाहुबली रास - शालिभद्र सूरि

इसकी रचना 1114 ई. में शालिभद्र सूरी ने की थी। यह अपने समय के प्रसिद्ध जैन कवि आचार्य तथा अच्छे कवि थे। इस ग्रंथ में भरतेश्वर तथा बहुबली का चरित्र वर्णन किया गया है। भरत आयु में बड़े थे और अधिक पराक्रमी थे वह अयोध्या के राजा बनाए गए थे और बहुबली को तक्षशिला का राज्य मिल गया था। कवि ने इन दोनों राजाओं की वीरता युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। हिंसा और वीरता के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित किए गए हैं। वीर और श्रृंगार रसों का निर्वेद में अंत हुआ है। 250 शब्दों में रचित यह एक सुंदर खंड काव्य है। इसकी भाषा में नाटकीयता उक्ति वैचित्य तथा रचनात्मकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आगे की रास या रासो रचनाओं को इस ग्रंथ में अनेक रूपों में प्रभावित किया है। अली जिन विजय ने इस ग्रंथ को जैन साहित्य की रास परंपरा का प्रथम ग्रंथ माना है।

(3) चंदनबाला रास- आसगु

यह 35 शब्दों का एक लघु काव्य है जिसकी रचना 1280 के लगभग आसगु नामक कवि ने मालवा में की थी इसकी कथा नाई का चंदनबाला चंपानगरी के राजा पर एक बार कौशांबी के राजा शतामिक ने चंपा नगरी पर आक्रमण किया था। सेनापति ने चंदनबाला का अपहरण किया और उसे एक शेठ को बेच दिया। शेठ की स्त्री ने उसे बहुत कष्ट दिया। चंदनबाला अपने सतीत्व पर अटल रही और दु:ख सहन करते हुए महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष की प्राप्ति की।इस प्रकार लघु कथानक पर आधारित यह जैन रचना करुण रस से भरी है।

(4) स्थूलिभद्र रास - जिन धर्म सूरी

1209 ईस्वी में रचित इस काव्य के कवि जिन धर्म सूरी है। स्थूलि भद्रा और कौशल में अन्य रचनाएं भी मिलती है। किंतु इन सभी रचनाओं में उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। कौषा के बाद भौगोलिक स्थान पर आने वाले स्थूलि भद्र

को जैन धर्म की दीक्षा देने के बाद मोक्ष का अध्य अधिकारी माना गया। इसकी भाषा का मूल रूप हिंदी है इस पर अपभ्रंश भाषा का भी प्रभाव देखने को मिलता है।

(5) रेवंत गिरीराज कवि विजय सेंचुरी यह विजय सेंचुरी की काव्य रचना है यह इसमें 1228 में लिखी गई रचना है जैन तीर्थकर का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है इसमें गिरीन आर. के. जैन मंदिरों के पुनरुद्धार की कथा है यह रचना चार कड़वा में विभक्त है इसमें 80 छंद है यह गीत नृत्य पर क्रश प्रतीत होता है इसका आरंभ तीर्थ ईश्वर अंबिका देवी की वंदना से होता है यह रचना राशि के रूप में खेलने योग्य है नेमिनाथ रास सुमति गनी इस काव्य की रचना सुमति गनी ने 1231 में की थी 58 शब्दों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरल शैली में प्रस्तुत किया है नेमिनाथ की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है जैन साहित्य के अंतर्गत यह उल्लेखनीय है इसके का विभिन्न प्रकार के हैं हम्मीर रासो नामक वीर काव्य की रचना की अनेक विद्वानों ने रचना की है, प्रारंभिक जैन साहित्य के दोहे चौपाइयों पद्धति पर चरित काव्य एवं आख्यान काव्य का निर्माण हुआ हिंदी साहित्य में और अपभ्रंश शैली में विशेषता अनेकता ग्रहण की जैन धर्म के दो प्रधान संप्रदाय दिगंबर और श्वेतांबर से पुरानी हिंदी में केवल दिगंबर धर्मियांचे पुरानी हिंदी की रचनाएं निर्मित हुई थी उनकी रचनाएं आज तक उपलब्ध नहीं है। सोता रचनाएं गुजराती में लिखी गई है और अधिक हिंदी में है वास्तव में जैन धर्म में हिंदी साहित्य के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। हिंदी साहित्य के आदिकाल में तीर्थंकरों की जीवनी सांसारिक वर्णन के द्वारा इन कवियों ने अपने सिद्धांतों का प्रचार किया ठीक इसी प्रकार ब्राह्मणों ने पुराणों द्वारा तथा जातक कथाओं के द्वारा अपने सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं।

(1) जैन साहित्य की विशेषताएँ–विषय की विविधता जैन साहित्य धार्मिक साहित्य होने के बावजूद सामाजिक धार्मिक ऐतिहासिक विषयों के साथी लोक आख्यान की कई कथाओं को अपनाता है रामायण महाभारत संबंधी कथाओं को भी जयन कवियों ने दक्षता के साथ अपनाया है, अत: सामाजिक विषयों के संबंध में चयन रचनाओं में लगभग सभी प्रकार के विषय वस्तु पाए जाते हैं।

(2) उपदेश मूलकता–यह जैन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। जिसके मूल में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था और उसका प्रचार है। इसके लिए जैन कवियों

ने दैनंदिन जीवन की घटनाएं आध्यात्मिक तत्त्व, चरित नायको, पुरुषों का आदर्श और तपस्वियों तथा पात्रों के जीवन का वर्णन किया है।

(3) तत्कालीन स्थितियों का यथार्थ चित्राण–जैन कवि राजाश्रय से रहित कवि थे। राजाश्रय का दबाव और दरबारी संस्कृति जैन साहित्य पर नहीं है। इसलिए उनकी रचनाओं में तत्कालीन स्थितियों का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। आदि कालीन आचार विचार, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों पर सही प्रकाश डालने में यह रचनाएं पर्याप्त रूप में सहायक होती है।इसलिए तत्कालीन समाज को परखने में आसानी होती है।

(4) विश्वासनीय साहित्य–जैन साहित्य आदिकालीन अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय माना जाता है।सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य की रचनाएं अधिकांश 17वी शताब्दी की महसूस होती है, किंतु 11 वी से 15 वी शताब्दी तक बोलियां तथा प्रांतीय भाषा में लिखा हुआ यह साहित्य अनेक हस्तलिखित प्रतियो में सुरक्षित है। इसलिए जैन साहित्य विश्वसनीय माना जा सकता है।

(5) शांत या निर्वेद रस की प्रमुखता–जैन साहित्य में करुण, वीर, श्रृंगार आदि सभी रसों का परिपाक हुआ है। जैन साहित्य के अंत में निश्चित ही शांत या निर्वेद रस प्रधान रूप में दिखाई देता है। इसलिए जैन साहित्य में शांत रस की प्रधानता पाई जाती है।कुछ कवियों ने श्रृंगार रस का कथाओं में उपयोग किया है।

(6) काव्य रूपों में विविधता–काव्य रूपों के क्षेत्र में भी जैन साहित्य विविध रूपों से संपन्न है। लेकिन प्रमुख रूप से दो रूप मिलते हैं। एक प्रबंध और दूसरा मुक्तक। जिससे अपभ्रंश साहित्य की वृद्धि हुई।इसके साथ इसमें रास, फागु, छप्पय प्रबंध, गाथा, गीत महात्मा, स्फूर्ति, उत्साह आदि प्रकार पाए जाते हैं।

(7) लोकभाषा की प्रतिष्ठा–अपभ्रंश से निकली हुई हिंदी प्राचीन रूप में मिलती है। भाषा गद्य रूप में कम मिलती है। जैन साधु ग्राम-ग्राम नगर-नगर घूम कर धर्म प्रचार करते थे। इसलिए उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोक भाषा का प्रयोग किया था और उसे प्रतिष्ठा प्रदान की थी।

(8) गद्य की प्राचीनतम रचनाओं का साहित्य अनेक पद्य रचनाओं के साथ गद्य रचना जैन कवियों ने की हुई दिखाई देती है।अर्चना, अलंकार बाल शिक्षा, बालबोध, कल्याण उपदेश, आदि अनेक रचनाएं जैन लेखकों की

उपलब्धि है। पद्य के साथ-साथ गद्य काव्य को जन्म देने का श्रेय भी आदिकाल के हिंदी जैन साहित्य को है।

(9) लौकिक और अलौकिक का आतंरिक परिचय–जैन साहित्य में लौकिक और अलौकिक दोनों का आतंरिक परिचय दिया गया है।

(10) तीर्थंकर 24 और चक्रवर्ती 12 बताएं गए हैं–पुरुषों से सम्बंधित जैन साहित्य में 24 तीर्थंकर और 12 चक्रवर्ती बताएं गए हैं।जैन गद्य साहित्य में प्रेम कथा की अनेक रचनाए हुई हैं। लौकिक और अलौकिक के अनेक संकेत इन रचनाओं में मिलते हैं।

(11) जैन धर्म में अधिक और विशेषकर महत्त्व सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र पर अधिक विवेचन किया गया है।

(12) दार्शनिक पक्ष पूर्ण रूप से तर्क पर आधारित है। मुख्यत: सात तत्त्वों की बात की गई है। (जीव, अजीव, वास्तव, कर्मबंध, संवर, निर्जरा और मिथ्या)

जैन मुनियों ने अपभ्रंश और हिंदी दोनों भाषा में काव्य रचना की है जिनमें स्वयं भुदेव, पुष्पदंत, धनपाल आदि की रचनाए अपभ्रंश की है और शालीभद्रसूरि, विनय चंद सुरि, धर्मसुरि, विजयसेन सुरि की रचनाए आरंभिक हिंदी की मानी जा सकती है।

इस प्रकार जैन साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जैन साहित्य की रास परक रचनायें

भारत के पश्चिमीभाग मे जैन साधुओ ने अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया। इन्होंने "ह्रास" को एक प्रभावशाली रचनाशैली का रूप दिया। जैन तीर्थंकरो के जीवन चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथायें जैन-आदर्शो के आवरण मे 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गयी।अत: जैन साहित्य का सबसे प्रभावशाली रूप 'रास' ग्रंथ बन गये। वीरगाथाओं मे रास को ही रासो कहा गया, किन्तु उनकी विषय भूमि जैन ग्रंथो से भिन्न हो गई। आदिकाल मे रचित प्रमुख हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:-

1. उपदेशरसायन रास- यह अपभ्रंश की रचना है एवं गुर्जर प्रदेश में लिखी गई हैं। इसके रचयिता श्री जिनदत्त सूरि हैं। कवि की एक और कृत्ति "कालस्वरुपकुलक" 1200 वि.के आस-पास की रही होंगी। यह "अपभ्रंश

काव्य त्रायी' में प्रकाशित है और दूसरा डॉ.दशरथ ओझा और डॉ. दशरथ शर्मा के सम्पादन में रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित किया गया है।

2. भरतेश्वरबाहुबलि रास- शालिभद्र सूरि द्वारा लिखित इस रचना के दो संस्करण मिलते हैं। पहला प्राच्य विद्या मन्दिर बड़ौदा से प्रकाशित किया गया है तथा दूसरा "रास" और रासान्वयीकाव्य' में प्रकाशित हुआ है। कृति में रचनाकाल सं. 1231वि.दिया हुआ है। इसकी छन्द संख्या 203 है। इसमें जैन तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्रों भरतेश्वर और बाहुबलि में राजगद्दी के लिए हुए संघर्ष का वर्णन है।

3. बुद्धिरास-यह सं. 1241 के आस-पास की रचना है। इसके रचयित शालिभद्रसूरि हैं। कुछ छन्द संख्या 63 है। यह उपदेशपरक रचना है। यह भी रास और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित है।

4. जीवदयारास-यह रचना जालोर पश्चिमी राजस्थान की है। "रास और रासान्वयी काव्य में संकलित है। इसके रचयिता कवि आसगु हैं। सं. 1257 वि. में रचित इसरचना में कुल 53 छन्द हैं।

5. चन्दरवाला रास-जीवदया रास के रचनाकार आसगु की यह दूसरी रचना हैं। यह भी 1257 वि. के आस-पास की रचना है। यह श्री अगर चन्द नाहटा द्वारा सम्पादित राजस्थान भारती में प्रकाशित हैं।

6. रेवंतगिरि रास-यह सोरठप्रदेश की रचना है। रचनाकार श्री विजय सेन सूरि हैं। यह सं.1288 वि. के आस-पास की रचना मानी जाती है। यह "प्राचीन गुर्जर काव्य' में प्रकाशित है।

7. नेतिजिणद रास या आबू रास- यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचनाकार पाल्हण एवंरचना काल सं. 1209 वि. है।

8. नेमिनाथरास- इसके रचयिता सुमति गण माने जाते हैं। कवि की एक अन्य कृति गणधरसार्ध शतक वृत्ति सं. 1295 की है। अत: यह रचना इस तिथि के आस-पास की रही होगी।

9. गयसुकमाल रास- यह रचना दो संस्करणों में मिली है। जिनके आधर पर अनुमानत: इसकी रचना तिथि लगभग सं. 1300 वि. मानी गई है। इसके रचनाकार देल्हणि है। श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित "राजस्थान भारती' पत्रिकामें प्रकाशित है तथा दूसरा संस्करण "रास और रासान्वयी" काव्य में है।

10. सप्तक्षेत्रिसु रास- यह रचना गुर्जर प्रदेश की है। तथा इसका रचना काल सं.1327 वि. माना जाता है।

11. पेथड़रास- यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचना मंडलीक हैं।

12. कच्छूलिरास- यह रचना भी गुर्जर प्रदेश के अन्तर्गत है। रचना की तिथि सं.1363 वि. मानी जाती है।

13. समरा रास– यह अम्बदेव सूरि की रचना है। इसमें सं. 1361 तक की घटनाओं का उल्लेख होने से इसका रचनाकाल सं. 1371 के बाद माना गया है। यह पाटणगुजरात की रचना है।

14. पं पडवरास- शालिभद्र सूरि द्वारा रचित यह कृति सं. 1410 की रचना है। यह भी गुर्जर की रचना है। इसमें विभिन्न छन्दों की 795 पंक्तिया हैं।

15. गौतमस्वामी रास- यह सं. 1412 की रचना है। इसके रचनाकार विनय प्रभुउपाध्याय है।

16. कुमारपाल रास- यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचनाकाल सं. 1435 के लगभग का है। इसके रचनाकार देवप्रभ हैं।

17. कलिकालरास- इसके रचयिता राजस्थान निवासी हीरानन्द सूरि हैं। यह सं. 1486 की रचना है।

18 श्रावकाचार- देवसेन नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य ने 933 ई. मे इस काव्य की रचना की। इसके 250 दोहो मे श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।

4

रासो काव्य

रासो काव्य हिन्दी के आदिकाल में रचित ग्रन्थ हैं। इसमें अधिकतर वीर-गाथाएं हीं हैं। पृथ्वीराजरासो प्रसिद्ध हिन्दी रासो काव्य है। रास साहित्य जैन परम्परा से संबंधित है तो रासो का संबंध अधिकांशत: वीर काव्य से, जो डिंगल भाषा में लिखा गया।

रास और रासो शब्द की व्युत्पति संबंधी विद्वानों में मतभेद है। कुछ मत निम्नलिखित हैं–

1. रास – नन्ददुलारे वाजपेयी
2. रासक – चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ. दशरथ शर्मा, पंडित विश्वनाथ मिश्र, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी
3. रसिक – नरोत्तम स्वामी
4. राजसूय – गार्सा द तासी
5. राजयश – डॉ. हरप्रसाद शास्त्री
6. रसायण – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
7. रहस्य – कविराज श्यामलदास, डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल

रासो साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ: वीरगाथात्मक काव्य की

इन रचनाओं में कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के शौर्य एवं ऐश्वर्य का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है।

यह साहित्य मुख्यत: राव (भाट) चारण कवियों द्वारा रचा गया।

इन रचनाओं में ऐतिहासिकता के साथ-साथ कवियों द्वारा अपनी कल्पना का समावेश भी किया गया है। अधिकांश रचनाएं संदिग्ध एवं अर्द्धप्रामाणिक मानी जाती हैं।

- इन रचनाओं में युद्धप्रेम का वर्णन अधिक किया गया है।
- इन रचनाओं में वीर रस व श्रृंगार रस की प्रधानता है।
- इन रचनाओं में डिंगल और पिंगल शैली का प्रयोग हुआ है।
- इनमें विविध प्रकार की भाषाओं एवं अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है।

इन रचनाओं में चारण कवियों की संकुचित मानसिकता का प्रयोग देखने को मिलता है।

प्रमुख रासो ग्रन्थ

पृथ्वीराज रासो - चंदबरदाई
बीसलदेव रासो - नरपति नाल्ह
परमाल रासो - जगनिक
हम्मीर रासो - शारंगधर
खुमान रासो- दलपति विजय
विजयपाल रासो - नल्लसिंह भाट
बुद्धिरासो - जल्हण
मुंज रासो - अज्ञात
कलियुग रासो - रसिक गोविन्द
कायम खाँ रासो - न्यामत खाँ जान कवि
राम रासो - समय सुन्दर
राणा रासो - दयाराम (दयाल कवि)
रतनरासो - कुम्भकर्ण
कुमारपाल रासो - देवप्रभ

हिन्दी साहित्य में रासो काव्य परम्परा

रासो

आदिकाल के हिन्दी-साहित्य में वीर गाथायें प्रमुख हैं। वीर गाथाओं के रुप में ही 'रासो' ग्रन्थों की रचनायें हुई हैं।

हिन्दी साहित्य में 'रास' या 'रासक' का अर्थ लास्य से लिया गया है, जो नृत्य का एक भेद है। अत: इसी अर्थ भेद के आधार पर गीत नृत्य परक रचनायें 'रास' नाम से जानी जाती हैं 'रासो' या 'रासउ' में विभिन्न प्रकार के अडिल्ल, दूँसा, छप्पर, कुण्डलियां, पद्धटिका आदि छन्द प्रयुक्त होते हैं। इस कारण ऐसी रचनायें 'रासो' के नाम से जानी जाती हैं।

'रासो' शब्द विद्वानों के लिए विवाद का विषय रहा है। इस पर किसी भी विद्वान का निश्चयात्मक एवं उपयुक्त मत प्रतीत नहीं होता। विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से इस शब्द की व्याख्या करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों ने अनेक प्रकार से इस शब्द की व्याख्या करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों ने 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रहस्य' शब्द के 'रसह' या 'रहस्य' का प्राकृत रुप मालूम से मानी जाती है। श्री रामनारायण दूगड़ लिखते हैं- 'रासो' या रासो शब्द 'रहस' या 'रहस्य' का प्राकृत रुप मालूम पड़ता है। इसका अर्थ गुप्त बात या भेद है। जैसे–कि शिव रहस्य, देवी रहस्य आदि ग्रन्थों के नाम हैं, वैसे शुद्ध नाम पृथ्वीराज रहस्य है, जोकि प्राकृत में पृथ्वीराज रास, रासा या रासो हो गया।

डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल और कविराज श्यामदास के अनुसार 'रहस्य' पद का प्राकृत रुप 'रहस्सो' बनता है, जिसका कालान्तर में उच्चारण भेद से बिगड़ता हुआ रुपान्तर 'रासो' बन गया है। रहस्य रहस्सो रअस्सो रासो इसका विकास क्रम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रसायण' से मानते हैं। डॉ उदयनारायण तिवारी 'रासक शब्द से रासो' का उदभव मानते हैं।

वीसलदेव रासो में 'रास' और 'रासायण' शब्द का प्रयोग काव्य के लिए हुआ है। ''नाल्ह रसायण आरंभई' एवं ''रास रसायण सुणै सब कोई'' आदि।

रस को उत्पन्न करने वाला काव्य रसायन है। वीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' एवं 'रसिय' शब्दों से 'रासो' शब्द बना।

प्रो. ललिता प्रसाद सुकुल रसायण को रस की निष्पत्ति का आधार मानते हैं।

मुंशी देवी प्रसार के अनुसार-'रासो के मायने कथा के हैं, वह रुढ़ि शब्द है। एक वचन 'रासा' और बहुवचन 'रासा' हैं। मेवाण, ढूढ़ाड और मारवाड में झगड़ने को भी रासा कहते हैं। जैसे–यदि कई आदमी झगड़ रहे हों, या वाद-विवाद कर रहे हों, तो तीसरा आकर पूछेगा 'कांई रासो है' है। लम्बी चौड़ी वार्ता को भी रासो और रसायण कहते हैं। बकवाद को भी रासा और रामायण

ढूंढ़ाण में बोलते हैं। काई रामायण है? क्या बकवाद है? यह एक मुहावरा है। ऐसे ही रासो भी इस विषय में बोला जाता है, कांई रासो है?

गार्सा-द तासी ने रासो शब्द राजसूय से निकला बतलाया है।

डॉ. ग्रियर्सन 'रासो' का रुप रासा अथवा रासो मानते हैं तथा उसकी निष्पत्ति 'राजादेश' से हुई बतलाते हैं। इनके अनुसार-"इस रासो शब्द की निष्पत्ति 'राजादेश' से हुई है, क्योंकि आदेश का रुपान्तर आयसु है।"

महामहोपाध्याय डॉ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा हिन्दी के 'रासा' शब्द को संस्कृत के 'रास' शब्द से अनुस्यूत कहते हैं। उनके मतानुसार- "मैं रासा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के रास शब्द से मानता हूँ। रास शब्द का अर्थ विलास भी होता है (शब्द कल्पदुम चतुर्थ काण्ड) और विलास शब्द चरित, इतिहास आदि के अर्थ में प्रचलित है।"

डॉ. ओझा जी ने अपने उपर्युक्त मत में रासा का अर्थ विलास बतलाया है, जबकि श्री डी. आर. मंकड 'रास' शब्द की उत्पत्ति तो संस्कृत की 'रास' धातु से बतलाते हैं, पर इसका अर्थ उन्होंने जोर से चिल्लाना लिया है, विलास के अर्थ में नहीं।

डॉ. दशरथ शर्मा एवं डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'रास' परम्परा की गीत नृत्य परक रचनायें ही आगे चलकर वीर रस के पद्यात्मक इति वृत्तों में परिणत हो गई। ''रासो प्रधानत: गानयुक्त नृत्य विशेष से क्रमश: विकसित होते-होते उपरुपक और किंफर उपरुपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया।''

इस गेय नाट्यों का गीत भाग कालान्तर में क्रमश: स्वतन्त्र श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य हो गया और इनके चरित नायकों के अनुसार इसमें युद्ध वर्णन का समावेश हुआ।''

पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी रासो शब्द को 'राजयश' शब्द से विनिश्रत हुआ मानते हैं।

साहित्याचार्य मथुरा प्रसाद दीक्षित रासो पद का जन्म राज से बतलाते हैं।

इन अभिमतों के विश्लेषण का निष्कर्ष रासो शब्द 'रास' का विकास है।

बुन्देलखण्ड में कुछ ऐसी उक्तियाँ भी पाई जाती है, जिनसे रासो शब्द के स्वरुप पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, जैसे-''होन लगे सास बहू के राछरे"।यह 'राछरा' शब्द रासो से ही सम्बन्धित है। सास-बहू के बीच होने वाले वाक्युद्ध को प्रकट करने वाला यह 'राछरा' शब्द बड़ी स्वाभाविकता से रायसा या रासो

के शाब्दिक महत्त्व को प्रगट करता है। वीर काव्य परम्परा में यह रासो शब्द युद्ध सम्बन्धी कविता के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसका ही बुन्देलखण्डी संस्करण 'राछरौ' है।

उपर्युक्त सभी मतों के निष्कर्ष स्वरुप यह एक ऐसा काव्य है जिसमें राजाओं का यश वर्णन किया जाता है और यश वर्णन में युद्ध वर्णन स्वतः समाहित होता है।

परम्परा

रासो काव्य परम्परा हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट काव्यधारा रही है, जो वीरगाथा काल में उत्पन्न होकर मध्य युग तक चली आई। कहना यों चाहिए कि आदि काल में जन्म लेने वाली इस विधा को मध्यकाल में विशेष पोषण मिला। 'पृथ्वीराज रासो' से प्रारम्भ होने वाली यह काव्य विधा देशी राज्यों में भी मिलती है। तत्कालीन कविगण अपने आश्रयदाताओं को युद्ध की प्रेरणा देने के लिए उनके बल, पौरुष आदि का अतिरंजित वर्णन इन रासो काव्यों में करते रहे हैं।

रासो काव्य परम्परा में सर्वप्रथम ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' माना जाता है। संस्कृत, जैन और बौद्ध साहित्य में 'रास' 'रासक' नाम की अनेक रचनायें लिखी गई। गुर्जर एवं राजस्थानी साहित्य में तो इसकी एक लम्बी परम्परा पाई जाती है।

यह निर्विवाद सत्य है कि संस्कृत काव्य ग्रन्थों का हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। संस्कृत काव्य ग्रन्थों में वीर रस पूर्ण वर्णनों की कमीं नहीं है। ऋगवेद में तथा शतपथ ब्राह्मण में युद्ध एवं वीरता सम्बन्धी सूक्त हैं। महाभारत तो वीर काव्य ही है। यहीं से सूत, मागध आदि द्वारा राजाओं की प्रशंसा का सूत्रपात हुआ जो आगे चलकर भाट, चारण, ढुलियों आदि द्वारा अतिरंजित रुप को प्राप्त कर सका। वीर काव्य की दृष्टि से 'रामायण' में भी युद्ध के अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन हैं। 'किरातार्जुनीय, में वीरोक्तियों द्वारा वीर रस की सृष्टि बड़ी स्वाभाविक है। 'उत्तर रामचरित' में जहाँ 'एको रसः करुण एव' का प्रतिपदान है वहीं चन्द्रकेतु और लव के वीर रस से भरे वाद-विवाद भी हैं। भट्ट नारायण कृत 'वेणी संहार' में वीर रस का अत्यन्त सुन्दर परिपाक हुआ है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की वीर काव्य प्रवृति संस्कृत से ही विनिश्रित हुई है।

महत्त्व

रास तथा रासो या रासक रचनायें प्रमुखत: दो रुपों में उपलब्ध होती है। 1. **धार्मिक रचनायें** 2. **ऐतिहासिक कोटि की रचनाएं।** धार्मिक रचनाओं के अन्तर्गत रास ग्रन्थों में जैन कवियों द्वारा लिखित जैन धर्म से सिद्धांतो रचनायें आती हैं। इन रचनाओं में जन तीर्थकरों तथा जैन धर्म के सिव्द्धान्तों के धार्मिक विश्वासों आचार एवं व्यवहाँरों पर प्रकाश डालती हैं तथा जैन साहित्य को भी इन रचनाओं के द्वारा पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ है। धार्मिक रचनाओं के ही अन्तर्गत दूसरा स्थान बौद्ध सिद्धान्तों का विवचेन किया गया है। इसके अतिरिक्त पौराणिक आधार पर स्थित पंच पाण्डव रास' पाँचों पाण्डवों के सम्बन्ध में लिखा गया है। ऐतिहासिक कोटि में आने वाले रासो या रासक ग्रन्थों के वर्ण्य विषय भी विभिन्न दिखलाई पड़ते हैं। कुछ रचनाओं में श्रृंगार रस को प्रधानता मिली है, जैसे–सन्देश रासक मुंजरास तथा वीसलदेव रास। इन ग्रन्थों का कथानक किसी न किसी प्रमाख्यान से सम्बन्धित है। मांकण रासो, छछूंदर रायसा, गाडर रायसा व धूस रायसा हास्य रस की राचनायें हैं, परन्तु अधिकता वीर रस की रचनाओं की ही है। युग विशेष की संस्कृति, धर्म, इतिहास तथा राजनीति आदि की परिस्थितियों का एक लिपिबद्ध विवरण प्रस्तुत करने में इन रासो ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

रासो कावें का मूल प्रतिपाद्य–

सामाजिक - देश के अधिकांश भूभाग पर मुगल सत्ता का प्रभाव था। चंपत राय और छत्रसाल जैसे–थोड़े क्षत्रिय थे, जो सुख–वैभव का त्याग कर तथा भारी कष्ट झेलकर आजीवन मुगलों से लोहा लेते रहे। अधिकांश राजवंशों में फूट एवं वैमनस्य था, जिससे वे आपस में लड़कर नष्ट होते रहते थे।

बुन्देलखण्ड के सभी राज्यों में मुगलों के समान शान शौकत एवं विलास–प्रियता का दौर था। यह प्रभाव उनके अन्त:पुरों में एक से अधिक रानियों के परिवारों में कभी कुछ स्पष्ट देखने को मिल जाता था। गृह कलह् भी देखा जाता था। सामान्ती वातावराण के राज्य–कर्मचारी विलासमय जीवन बिताते थे। निम्न वर्ग की जनता की दशा सोचनीय थी। समाज के गरीब तबके के लोग सुखी न थे, परन्तु किसी प्रकार निर्वाह करते जाने को ही भाग्य–विधान मानते थे। अधिकांश लोग राजा की नौकरी करना पसन्द करते थे, जिससे उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सुविधायें मिल सकें। मध्यम वर्ग सुखी था। हिन्दू समाज में

बाल विवाह प्रचलित था। सती प्रथा भी थी। उच्च घरानों में पर्दा प्रथा भी प्रवेश पा चुकी थी।

धार्मिक – उत्तर भारत में भक्ति युग में एक लम्बी परम्परा रही है, जिसका देश के अन्य भागों पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा इस समय में अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की गई। साधु-संतों के वाद-विवादों के अखाड़े हुआ करते थे, जहाँ खण्डन-मण्डन की रीतियों द्वारा अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठ सिद्ध किया जाता था। लोगों में अन्ध विश्वास बहुत था।

बुन्देलखण्ड में उत्तर मध्यकाल में अनेक प्रसिद्ध सन्त हुए, जिन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त था। महात्मा अक्षर अनन्य योग और वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे। राजयोग के उनके उपदेश का ही परिणाम था कि सेंवढ़ा नरेश राजा पृथ्वीसिंह ने कर्मयोग स्वीकार करते हुए वैराग्य का विचार त्याग दिया। यही पृथ्वीसिंह हिन्दी साहित्य में 'रतन हजारा' के रचयिता 'रसनिधि' कवि के नाम से विख्यात हुए। इन्होंने अपने काव्य में प्रेम योग की एक सुन्दर धारा बहाई है। अनन्य जी एक बार किसी बात पर रुष्ट होकर वन में चले गये। राजा पृथ्वीसिंह उनसे क्षमा मांगने पहूँरुाचे, परन्तु उन्हें एक झाड़ी के पास बड़े आराम से लेटा हुआ देखा, तो अपना अपमान समझकर पूछा-"पाँव पसारा कब से" उत्तर मिला-"हाथ समेटा तब से"।

अनन्य जी ने इसी समय से वैराग्य ले लिया, पर राजा का मन रखने के लिए वचन दिया कि वे विचरते हुए कभी-कभी दर्शन देंगे। पश्चात् बुन्देल केशरी छत्रसाल से भी उनकी भेंट हुई। महाराज छत्रसाल और अक्षर-अनन्य के बीच पत्राचार की बात प्रसिद्ध है। अनन्य जी के लिखे हुए चिट्ठे ऐतिहासिक महत्त्व से परिपूर्ण हैं। निर्गुण मार्गी सन्त कवियों में अनन्य का अपना स्थान है। उनकी रचना शैली थोड़े में बहुत कुछ बता देती है। उदाहरण-

'आवै सुगन्ध कुरंग की नाभि कुरंग न सो समुझै मनमाही।
दूध सुधाहिं धरै सुरभी, न सवाद लब्धे सुरभीतिहिठाही।।
जान कों सार असार अजान कौं, जाने बिना सब बात वृथा हीं।।
ईश्वर आप अनन्य भने इमिहै सबमें सब जानत नाहीं।।''

स्वामी प्राणनाथ धामी प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए हैं, जिन्होंने बुन्देल केशरी छत्रसाल को अपना शिष्य बनाते हुए आशीर्वाद दिया कि वे औरंगजेब के विरुद्ध अपने अभियान में स्थाई सफलता प्राप्त करें, उनके राज्य में सुख समृद्धि की कभी कोई कमीं न हो और हिन्दुत्व की रक्षा में उनका नाम अमर हो। सर्वसाधारण में यह विश्वास प्रचलित है कि पन्ना नगरीमें हीरों का पाया जाना

स्वामी प्राणनाथ के आशीर्वाद का ही परिणाम था, जिससे महाराज को अपनी लड़ाइयों के लिए तथा प्रजापालन एवं दानशीलता आदि कर्तव्यों के लिए धन की कमी न होने पावे। बताया जाता है कि स्वामी प्राणनाथ जी की सेवा में दक्षिणा भेंट करते हुए छत्रसाल ने निम्नलिखित दोहा कहा–

ह टीका यह पांवड़वो, यही निछावर आय।
प्राननाथ के चरन पर, छत्ता बलिबलि जाय॥

राजा की नीति धर्म समन्वित थी। राजा लोग राज्य के कार्यों में भी अपने धर्म गुरुओं से सलाह लेते थे। इस युग में ब्राह्मण धर्म का ही बोल बाला था। ब्राह्मणों के आशीर्वाद और प्रचार से ही राजा आन्तरिक व्यवस्था में स्वतंत्र थे। नरेशों के व्यवहाँर का प्रभाव साधारण जनता पर भी विशेष रुप से व्यक्त होता था। उसमें भी धर्मभीरुता, दानशीलता की प्रवृतियाँ बनी हुई थीं। नरेशों में राज धर्म के अनुसार अन्य सम्प्रदायों के प्रति धार्मिक उदारता का भाव बना हुआ था।

शरणागत वत्सलता का भाव अधिकांश बुन्देला नरेशों में विद्यमान था। उनकी आपसी लड़ाइयों का एक बड़ा कारण यह भी रहा है कि वे किसी के पीछे संघर्ष मोल लेने से नहीं चूकते थे। छोटे से दतिया राज्य के अधिकपत्य शत्रुजीत ने महादजी की विधवा बाईयों का पक्ष लेकर अपने से कहीं बड़े वैभव से टक्कर ली थी।

राजनैतिक – बुन्देला राजवंश का इतिहास मुख्यत: मुगलों के उत्कर्ष से ही प्रारम्भ होता है। मुगलों का तृतीय सम्राट अकबर जिस समय सिंहासन पर बैठा, उस समय भारत छोटे–छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था। अकबर ने कई स्वतन्त्र राज्यों पर विजय पाते हुए मुगल साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। उसने बिखरे हुए इन राज्यों को राजनैतिक एकता में बाँधकर देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया। बुन्देलखण्ड को भी उसने राजस्थान, उत्तर–पश्चिम–सीमान्त–प्रदेश, गोंडवान आदि के साथ अपने साम्राज्य का अंग बनाया। यहाँ बुन्देलखण्ड में उसने प्रत्यक्ष अधिकार जमाने की विशेष चिंता नहीं की। राजधानी आगरा का निकटवर्ती यह प्रदेश दक्षिण के उसके अभियानों के लिए सहज सीधा मार्ग था। अतएव उसने ओरछा के बुंदेला शासक से मैत्री स्थापित करने में ही अपने उद्देश्य की पूर्ति देखी। मधुकर शाह और वीरसिंह देव जेसे बुन्देलखण्ड का राज्य कई जागीरों में बँट गया। स्वभावत: इन छोटे राजाओं के स्वार्थ मुगलसत्ता से मिलकर चलने में ही पूरे हो सकते थे। अत: ये राज्य साम्राजय की शक्ति पर अधिक निर्भर रहने लगे और इस प्रकार इनकी दासता

का अध्याय प्रारम्भ हुआ। अधिकांश बुन्देला राजाओं ने मुगल साम्राज्य के प्रति वफादारी को अपना राजनीतिक धर्म मानकर उसके लिए गर्व करने की नीति अपनाई।

प्रबल प्रतापी वीरसिंह देव एक अत्यन्त महत्त्वकांक्षी योद्धा थे। बादशाह अकबर और शाहजादा सलीम में जब मतभेद उभर कर प्रकट हुए और सलीम ने अकबर के अत्यन्त विश्वासपात्र मंत्री और सेनापति अबुल फजल को अपने मार्ग की एक बड़ी बाधा समझा, तो सलीम को वीरसिंह देव का ही एकमात्र सहारा समझ पड़ा। उसने अबुल फजल को मार डालने के लिए वीरसिंह देव से सम्पर्क स्थापित किया। बुन्देलों की प्रधान गद्दी ओरछा पर अधिकार पाने की महत्त्वाकांक्षा लेकर वीरसिंह देव ने सहज ही यह काम कर डाला। अबुल फजल का वध करने के पश्चात् उन्होंने उसका सिर काटकर जहाँगीर के पास इलाहाबाद भेज दिया। सलीम फूला न समाया। उसने अपने मित्र वीरसिंह देव को भरपूर पुरस्कार देने की नीति बना ली। परन्तु सम्राट अकबर के जीवन काल में वीरसिंह देव को उसके रोष का सामना करते हुए अनेक कठिनाइयों को झेलना पड़ा। सलीम जब जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा, तो उसने वीरसिंह देव को पुरस्कृत करने में कमीं नहीं की। कालान्तर में वीरसिंह देव के उत्तराधिकारी सम्राट से मैत्री के इस आदर्श के नाम पर हीं मुगलों के ऊपर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे। वीरसिंह देव के बड़े बेटे तथा ओरछा के राजा जुझारसिंह को साम्राज्य की दासता कुछ अखरने लगी। उन्होंने शाहजहाँ के शासन काल में दो बार मुगल सम्राट के विरुद्ध विद्रोह भी खड़ा किया, परन्तु वे बुरी तरह परास्त हुए। संभवतः इसीलिए आगे के अन्य राजाओं ने मुगलों से सम्बन्ध बनाये रखने में ही कुशलता समझी।

शाहजहाँ में धार्मिक कट्टरता का अंश अवश्य था। तभी जुझारसिंह को विद्रोह करने की आवश्यकता पड़ी, परन्तु उसके बाद औरंगजेब ने सम्राट बनते ही अकबर के समय से चली आने वाली नीतियों को एकदम बदल दिया। कट्टर सुन्नी मुसलमान औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीतियों को एकदम बदल दिया। कट्टर सुन्नी मुसलमान औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीतियों ने उत्तर में सिक्खों से लेकर दक्षिण में मराठों तक ग्रांति की चिनगारी प्रज्जवलित कर दी। सिक्ख, मराठा और सतनामी मुगल साम्राज्य के प्रति बैरी बन बैठे। तभी राजा चम्पतराय और उनके पुत्र छत्रसाल नामक बुन्देला वीरों ने हिन्दुत्व की रक्षा के लिए मुगल सत्ता को उखाड़ फेंकने का व्रत लिया। वीर छत्रसाल तो छत्रपति शिवाजी के आदर्श से विशेष रुप से अनुप्राणित थे। अपने पिता चम्पतराय से भी अधिक नाम

उन्होंने पाया है। बुन्देलखण्ड की स्वाधीनता के लिए उनका योगदान किसी प्रकार कम नही। अपने ही वंश के कुछ अन्य शासकों से बुन्देल केशरी छत्रसाल को समुचित सहयोग मिल पाता, तो इस मध्यवर्ती भूभाग से मुगलों की सत्ता कभी की उठ गई होती। महाराज छत्रराज ने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया, परन्तु अपने वंश के अन्य नरेशों के प्रति विशेष सख्ती नहीं बरती। यद्यपि औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य दिन प्रतिदिन अशक्त होता गया, तथापि ओरछा, दतिया आदि के राजघराने मुगलों के आश्रित बने रहे।

मुहम्मद खाँ वंगश के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने के लिए महाराजा छत्रसाल ने वृद्धावस्था के अन्तिम दिनों में पेशवा बाजीराव से सहायता चाही। पेशवा को अपना तीसरा बेटा मानते हुए उन्होंने अपने राज्य का एक तिहाई भाग भी सौंप दिया था। फलतः इस भू-भाग में मराठों को पैर जमाने का अवसर मिल गया। झाँसी और ग्वालियर मराठों की, इस क्षेत्र में दो बड़ी राजधानियाँ स्थापित हुई। इन राज्यों से बुन्देलखण्ड के नरेशों के सम्बन्ध बनते और बिगड़ते रहे। कभी किसी राजा का व्यवहाँर मैत्रीपूर्ण होता और कभी कोई शत्रुता मानता। समय-समय पर कई मराठा सरदार इन राज्यों पर छापा मारते रहते।

शृंगारिक - रासो काव्यों की परम्परा में कुछ ऐसे रासो ग्रन्थ हैं, जिनका वर्ण्य-विषय ही शृंगार-परक रहा है। वीसल देव रासो एवं सन्देश रासक तो पूर्णतया शृंगार रचनायें ही है, जैसा पहले रासो काव्य परम्परा में लिखा जा चुका है। वीसलदेव रासो में वीसलदेव के जीवन के 12 वर्षों के कालखण्ड का वर्णन किया गया है। वीसलदेव अपनी रानी की एक व्यंग्योक्ति पर उत्तेजित होकर लम्बी यात्रा पर चला गया और एक राजा की रजाकुमारी के साथ विवाह करके भोग विलास के जीवन में निरत हो गया। इस प्रकार इस ग्रंथ शृंगार के दोनों ही पक्षों का सुन्दर समन्वय है। वियोग शृंगार एवं संयोग शृंगार का अच्छज्ञ चित्रण इस काव्य ग्रन्थ में किया गया है।

पृथ्वीराज रासो को पढ़ने से ज्ञात होता है कि महाराजा पृथ्वीराज चौहान ने जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ीं, उन सबका प्रमुख उद्देश्य राजकुमारियों के साथ विवाह और अपहरण ही दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि रासो काव्यों में वर्णित सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं शृंगारिक प्रवृत्तियाँ विविधता से पूर्ण थीं।

5

हिंदी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक) रासो काव्य

रासो शब्द की उत्पत्ति के संदर्भ में चार मान्यताएं प्रचलित हैं। प्रथम मत गार्सा द तासी का है जिन्होंने 'रासो' को मूल से, रूप से 'राजसूय यज्ञ' से उत्पन्न माना। इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि रासो का मूल संबंध वीरता से है। दूसरा मत रामचंद्र शुक्ल का है जिन्होंने 'बीसलदेव रासो' नामक ग्रंथ को आधार मानते हुए उसमें प्रयुक्त 'रसायन' शब्द से इसकी उत्पत्ति मानी। तृतीय मत आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी का है, जिन्होंने माना कि 'रस' शब्द से ही रासो, रास एवं रासक की उत्पत्ति हुई। उन्होंने रासो काव्य-धारा के ही एक पद के माध्यम से इस मान्यता को प्रमाणित करने का प्रयास किया –

'रासउ असंधु नवरस छंदु चंदु किअ अमिअ सम।
शृंगार वीर करुणा बिभछ भय अद्‌भुतह संत सम॥'

चतुर्थ मत हजारी प्रसाद द्विवेदी का है। उनके अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति रासक शब्द से हुई है। उन्होंने अपनी परंपरावादी दृष्टि से यह सिद्ध किया कि यह अचानक पैदा हुई परंपरा नहीं है वरन् संस्कृत काव्यधारा से ही चलती आ रही है। प्राकृत के विकास के दौरान जब अन्त्य व्यंजन हटने लगे तो रासक शब्द घिस कर रास हो गया। यही कारण है कि जैन साहित्य में जो रचनाए हुई, उनमें 'रास' का प्रयोग हुआ, जैसे– चंदनबाला रास, भरतेश्वरबाहुबली रास,

उपदेश रसायन रास आदि। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि ये प्रायः प्राकृताभास अपभ्रंश में ही लिखे गए।

इसके अनंतर, प्राकृत से अपभ्रंश के विकास के दौरान यह शब्द राजस्थान पहुँचा तो वहाँ की लोकभाषा की ओकारान्त प्रवृत्ति ने इसे रासो बना दिया। इस क्षेत्र में चूंकि वीरतापूर्ण रचनाए अधिक हुई, अतः प्रायः ऐसा हुआ कि वीरतापूर्ण रचनाओं के अंत में रासो शब्द का प्रयोग होने लगा, जैसे– पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो आदि। हालां कि इस पूरी परंपरा में कुछ आरंभिक रचनाए ऐसी भी थीं जो न तो जैन कवियों की थीं, और न ही राजस्थानी क्षेत्र की। ऐसी रचनाओं में प्रायः रासक शब्द का प्रयोग हुआ जिनमें सबसे प्रमुख कवि 'अद्दहमाण' (अब्दुर्रहमान या अब्दुल रहमान) की रचना 'सनेह रासउ' (संदेश रासक) है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रास, रासो व रासक परंपराएँ मूलतः अलग-अलग नहीं, एक ही हैं। केवल स्थान तथा समय के अंतर से इनके नामकरण में भेद दिखाई देता है।

प्रश्न यह भी उठता है कि रासो परंपरा का मूल आधार कहाँ स्थित है? वस्तुतः संस्कृत साहित्य में 'रासक' शब्द के प्रायः तीन अर्थ किए जाते हैं - (1) नृत्यप्रधान रचना (2) दृश्यप्रधान रचना, तथा (3) गीत तथा भाव प्रधान रचना। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जैसे-जैसे–संस्कृत साहित्य पालि, प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य में परिवर्तिन हुआ, वैसे-वैसे ऐतिहासिक प्रभावों के कारण नृत्यप्रधान व दृश्यप्रधान रचनाए प्रायः लुप्त सी हो गईं। गीत व भाव प्रधान रचनाए इन नई भाषिक परंपराओं में प्रचलित हुईं व इन्हीं रचनाओं को रासो साहित्य नाम दिया गया। यही कारण है कि छंदों का वैविध्य इन रचनाओं में पारंपरिक गुण के रूप में बना हुआ है।

रासो काव्य का वर्गीकरण

रासो काव्यधारा में तीन तरह के ग्रंथ लिखे गए - वीरता प्रधान, शृंगार प्रधान तथा उपदेश प्रधान। चारण व भाट कवियों द्वारा रचित वीर काव्यों के अतिरिक्त शृंगार प्रधान व वीरता प्रधान रचनाए भी इस परंपरा में आती हैं।

वीरता प्रधान रासो काव्य परंपरा में वीर रस अंगीरस है और संयोग शृंगार गौण रस है। इसमें चारण कवियों ने आश्रयदाताओं की प्रशंसा हेतु अतिशयोक्तिपूर्ण वीर काव्य लिखे हैं। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो (चंदबरदाई), हम्मीर रासो खुमाण रासो (दलपत विजय), विजयपाल रासो (नल्लसिंह) आदि। इन काव्यों में सामंती मूल्यों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। जैसे–

'एउ जिम्मु नग्गुहँ गिउ, भडसिसि खग्ग न भग्गु।
तिक्खा तुरिय न मारिया, गोरी गले न लग्गु॥'

अर्थात ऐसे व्यक्ति को धिक्कार है जिसने अपने सिर से तलवार न तोड़ा हो, खतरनाक या अड़ियल घोड़े को वश में न किया हो तथा गोरी को गले न लगाया हो।

शृंगारपरक रासो काव्यों में अंगीरस शृंगार है। इनमें शृंगार के संयोग व वियोग दोनों पक्षों का चित्रण है। अब्दुल रहमान का 'संदेश रासक' व नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' उल्लेखनीय शृंगार प्रधान काव्य है। इन दोनों में ही विरह तत्त्व प्रबल रूप में उपस्थित है। धार्मिक रासो काव्यों की रचना जैन कवियों द्वारा अपने धर्म व उपदेश का प्रचार करने के लिए की गई है। इसमें जिनदत्त सूरि द्वारा रचित 'उपदेश रसायन रास' शालिभद्र सूरि द्वारा रचित 'भरतेश्वर बाहुबली रास' उल्लेखनीय है।

रासो काव्य की भाषा

रासो काव्यों की भाषा का विश्लेषण विभिन्न आधारों पर किया जाता है क्योंकि रासो साहित्य का रचना क्षेत्र व काल अत्यंत व्यापक रहा है। ये आधार मुख्यतः दो हैं - कालगत आधार तथा प्रवृत्तिगत आधार।

कालगत परिप्रेक्ष्य में रासो काव्यों की भाषा में दो-तीन ऐतिहासिक चरण द्रष्टव्य हैं। इनमें प्राचीनतम चरण जैन कवियों की उन रचनाओं की भाषा का है, जिनके अंत में 'रास' शब्द प्रयुक्त है। इन रचनाओं को 'प्राकृताभास अपभ्रंश' कहते हैं अर्थात ऐसी भाषा जो है तो अपभ्रंश किन्तु प्राकृत जैसी आभास दे रही होती है। दूसरा चरण उन रचनाओं का है, जिन्हें आरंभिक अपभ्रंश की रचना माना जा सकता है, जैसे– संदेश रासक। तीसरा चरण उन रचनाओं का है, जिनकी भाषा को कहीं-कहीं 'परवर्ती अपभ्रंश' व कहीं-कहीं 'परिनिष्ठित अपभ्रंश' कहा जाता है। अंतिम चरण वहाँ दिखता है जहाँ रासो काव्यों की भाषा पुरानी हिंदी के समान हो जाती है व कहीं-कहीं तो वर्तमान हिंदी के समान दिखाई देने लगती है। जैसे– परमाल रासो का यह प्रसंग -

'बारह बरस लौं कूकर जीएँ, औ तेरह लौं जिएँ सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीएँ, आगे जीवन को धिक्कार॥'

व्यक्तिगत या स्थानगत आधार पर देखें तो रासो काव्यों की भाषा को 2 वर्गों में बाँटने का प्रचलन है - डिंगल व पिंगल। डिंगल प्रायः ओजगुण प्रधान

शैली है, जो प्रमुखत: वीरतापरक काव्यों - जैसे–कि परमाल रासो में दिखाई देती है। पिंगल का आशय श्रृंगार व प्रेम के लिए प्रयुक्त कोमल व व्याकरण सम्मत व्यवस्थित भाषा से है, जिसका प्रयोग मुख्यत: मध्य देश में व श्रृंगार प्रधान काव्यों में हुआ, जैसे–कि बीसलदेव रासो। ऐसा भी नहीं है कि एक रासो काव्य में एक ही शैली का प्रयोग किया जाता हो। सामान्यतया रासो काव्यों में दोनों शैलियों का समन्वय मिलता है। युद्ध आदि के प्रसंग में डिंगल तथा श्रृंगार आदि के प्रसंग में पिंगल शैली को अपनाया गया है।

डिंगल और पिंगल

रासो काव्य परंपरा की भाषा के संबंध में एक विवाद है कि डिंगल व पिंगल शब्द विभिन्न भाषाओं को सूचित करते हैं या विभिन्न बोलियों को? डिंगल व पिंगल में कोई वास्तविक भेद है भी या नहीं? जहाँ तक डिंगल का प्रश्न है, इस शब्द की व्युत्पत्ति पर अत्यधिक विवाद है। आचार्य हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी उत्पत्ति डगल (अनपढ़) शब्द से मानी है और डॉ. तेसीतरी का भी मत है कि डिंगल एक अनियमित व गँवारू शैली का नाम था। ओजगुण प्रधानता के आधार पर भी डिंगल को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। मोतीलाल मेनारिया ने इसे 'डींगल' के रूप में लिया जिसका अर्थ था 'डींग हाँकना'। 'ड' वर्ण की अधिकता के आधार पर भी इसे इसकी व्याख्या की गई तो 'डिम्गल' अर्थात् गले से डमरू जैसी ओजपूर्ण ध्वनियाँ निकलने के आधार पर भी इसे डिंगल माना गया। कुल मिलाकर डिंगल वह शैली है जिसमें ओजगुण की उपस्थिति हो तथा जिसका प्रयोग सामान्यत: व्याकरण सम्मत ढंग से न हुआ हो।

पिंगल इस साहित्य परंपरा की दूसरी शैली है जिसमें व्याकरणिक व्यवस्था तथा माधुर्य गुण की अवस्थिति निर्णायक विशेषताएँ मानी गईं। रामचंद्र शुक्ल ने इसे ब्रजभाषा के आरंभिक रूप में स्वीकार किया। आगे चलकर रामकुमार वर्मा तथा धर्मवीर ने तो इसे पूर्णत: ब्रज ही माना। इस संदर्भ में शुक्ल जी लिखते हैं - 'प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी'

वस्तुत: पिंगल छंदशास्त्र के रचयिता का नाम था और जो रचनाए व्यवस्थित किस्म की भाषा शैली में रची गई थीं, उन्हें पिंगल कहने की परंपरा

थी। श्यामसुंदर दास व डॉ. तेसीतरी ने पिंगल को ब्रज के समान तो माना ही किंतु मुख्य बल इस बात पर दिया है कि यह व्याकरण व्यवस्था के अनुकूल भाषा थी। देखा जाय तो डिंगल व पिंगल दो भिन्न भाषाएँ नहीं थीं बल्कि एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानी जा सकती हैं। प्रायः शृंगार संबंधी पदों में पिंगल की अधिकता तथा युद्धों के ओजपूर्ण वर्णनों में डिंगल की अधिकता दिखाई पड़ती है।

6

हिन्दी का सर्वप्रथम कवि

21वीं सदी के इस दौर में जब संचार-क्रान्ति के साधनों ने समग्र विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' में परिवर्तित कर दिया हो एवं इंटरनेट द्वारा ज्ञान का समूचा संसार क्षण भर में एक क्लिक पर सामने उपलब्ध हो, ऐसे में यह अनुमान लगाना कि कोई व्यक्ति दुर्लभ ग्रन्थों की खोज में हजारों मील दूर पहाड़ों व नदियों के बीच भटकने के बाद, उन ग्रन्थों को खच्चरों पर लादकर अपने देश में लाए, रोमांचक लगता है। पर ऐसे ही थे भारतीय मनीषा के अग्रणी विचारक, साम्यवादी चिन्तक, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, सार्वदेशिक दृष्टि एवं घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के महान पुरूष राहुल सांकृत्यायन।

राहुल सांकृत्यायन के जीवन का मूलमंत्र ही घुमक्कड़ी यानी गतिशीलता रही है। घुमक्कड़ी उनके लिए वृत्ति नहीं वरन् धर्म था। आधुनिक हिन्दी साहित्य में राहुल सांकृत्यायन एक यात्राकार, इतिहासविद्, तत्त्वान्वेषी, युगपरिवर्तनकार साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं।

आरंभिक जीवन

राहुल सांकृत्यायन का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में 9 अप्रैल 1893 को हुआ था। उनके बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। उनके पिता गोवर्धन पाण्डेय एक धार्मिक विचारों वाले किसान थे। उनकी माता कुलवंती अपने माता-पिता की अकेली पुत्री थीं। दीप चंद पाठक कुलवंती

के छोटे भाई थे। वह अपने माता-पिता के साथ रहती थीं। बचपन में ही इनकी माता का देहांत हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनके नाना श्री राम शरण पाठक और नानी ने किया था। 1898 में इन्हे प्राथमिक शिक्षा के लिए गाँव के ही एक मदरसे में भेजा गया। राहुल जी का विवाह बचपन में कर दिया गया। यह विवाह राहुल जी के जीवन की एक संक्रान्तिक घटना थी। जिसकी प्रतिक्रिया में राहुल जी ने किशोरावस्था में ही घर छोड़ दिया। घर से भाग कर ये एक मठ में साधु हो गए। लेकिन अपनी यायावरी स्वभाव के कारण ये वहाँ भी टिक नहीं पाये। चौदह वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ता भाग आए। इनके मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गहरा असंतोष था। इसीलिए यहाँ से वहाँ तक सारे भारत का भ्रमण करते रहे।

राहुल जी का समग्र जीवन ही रचनाधर्मिता की यात्रा थी। जहाँ भी वे गए वहाँ की भाषा व बोलियों को सीखा और इस तरह वहाँ के लोगों में घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति, समाज व साहित्य का गूढ़ अध्ययन किया। राहुल सांकृत्यायन उस दौर की उपज थे जब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति सभी संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। वह दौर समाज सुधारकों का था एवं कांग्रेस अभी शैशवावस्था में थी। इन सबसे राहुल अप्रभावित न रह सके एवं अपनी जिज्ञासु व घुमक्कड़ प्रवृत्ति के चलते घर-बार त्याग कर साधु वेषधारी संन्यासी से लेकर वेदान्ती, आर्यसमाजी व किसान नेता एवं बौद्ध भिक्षु से लेकर साम्यवादी चिन्तक तक का लम्बा सफर तय किया। सन् 1930 में श्रीलंका जाकर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये एवं तभी से वे 'रामोदर साधु' से 'राहुल' हो गये और सांकृत्य गोत्र के कारण सांकृत्यायन कहलाये। उनकी अद्‌भुत तर्कशक्ति और अनुपम ज्ञान भण्डार को देखकर काशी के पंडितों ने उन्हें महापंडित की उपाधि दी एवं इस प्रकार वे केदारनाथ पाण्डे से महापंडित राहुल सांकृत्यायन हो गये। सन् 1937 में रूस के लेनिनग्राद में एक स्कूल में उन्होंने संस्कृत अध्यापक की नौकरी कर ली और उसी दौरान ऐलेना नामक महिला से दूसरी शादी कर ली, जिससे उन्हें इगोर राहुलोविच नामक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। छत्तीस भाषाओं के ज्ञाता राहुल ने उपन्यास, निबंध, कहानी, आत्मकथा, संस्मरण व जीवनी आदि विधाओं में साहित्य सृजन किया परन्तु अधिकांश साहित्य हिन्दी में ही रचा। राहुल तथ्यान्वेषी व जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे सो उन्होंने हर धर्म के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। अपनी दक्षिण भारत यात्रा के दौरान संस्कृत-ग्रन्थों, तिब्बत प्रवास के दौरान

पालि-ग्रन्थों तो लाहौर यात्रा के दौरान अरबी भाषा सीखकर इस्लामी धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चितत: राहुल सांकृत्यायन की मेधा को साहित्य, अध्यात्म, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, भाषा, संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता वरन् समग्रत: ही देखना उचित है।

बौद्ध -धर्म की ओर झुकाव

1916 तक आते-आते इनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर होता गया। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर, वे राहुल सांकृत्यायन बने। बौद्ध धर्म में लगाव के कारण ही ये पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाओ के सीखने की ओर झुके। 1917 की रुसी क्रांति ने राहुल जी के मन को गहरे में प्रभावित किया। वे अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव भी रहे। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्रा की और वहाँ से विपुल साहित्य ले कर आए। 1932 को राहुल जी यूरोप की यात्रा पर गए। 1935 में जापान, कोरिया, मंचूरिया की यात्रा की। 1937 में मास्को में यात्रा के समय भारतीय-तिब्बत विभाग की सचिव लोला येलेना से इनका प्रेम हो गया। और वे वहीं विवाह करके रूस में ही रहने लगे। लेकिन किसी कारण से वे 1948 में भारत लौट आए।

राहुल जी को हिन्दी और हिमालय से बड़ा प्रेम था। वे 1950 में नैनीताल में अपना आवास बना कर रहने लगे। यहाँ पर उनका विवाह कमला सांकृत्यायन से हुआ। इसके कुछ बर्षो बाद वे दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में जाकर रहने लगे, लेकिन बाद में उन्हें मधुमेह से पीड़ित होने के कारण रूस में इलाज कराने के लिए भेजा गया। 1963 में सोवियत रूस में लगभग सात महीनो के इलाज के बाद भी उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। 14 अप्रैल 1963 को उनका दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में देहांत हो गया।

साहित्यिक रुझान

राहुल जी वास्तव के ज्ञान के लिए गहरे असंतोष में थे, इसी असंतोष को पूरा करने के लिए वे हमेशा तत्पर रहे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को विपुल भण्डार दिया। उन्होंने मात्र हिन्दी साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि वे भारत के कई अन्य क्षेत्रों के लिए भी उन्होंने शोध कार्य किया। वे वास्तव में महापंडित थे। राहुल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे संपन्न विचारक थे। धर्म, दर्शन,

लोकसाहित्य, यात्रासहित्य, इतिहास, राजनीति, जीवनी, कोष, प्राचीन ग्रंथो का संपादन कर उन्होंने विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनकी रचनाओ में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को मिलता है। यह केवल राहुल जी थे, जिन्होंने प्राचीन और वर्तमान भारतीय साहित्य चिंतन को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर मौलिक दृष्टि देने का प्रयास किया। उनके उपन्यास और कहानियाँ बिल्कुल नए दृष्टिकोण को हमारे सामने रखते हैं। तिब्बत और चीन के यात्राकाल में उन्होंने हजारों ग्रंथों का उद्धार किया और उनके सम्पादन और प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया, ये ग्रन्थ पटना संग्रहालय में है। यात्रासाहित्य में महत्त्वपूर्ण लेखक राहुल जी रहे हैं। उनके यात्रावृतांत में यात्रा में आने वाली कठिनाइयों के साथ उस जगह की प्राकृतिक सम्पदा, उसका आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन और इतिहास अन्वेषण का तत्त्व समाहित होता है। 'किन्नर देश की ओर', 'कुमाँऊ', 'दार्जिलिंग परिचय' तथा 'यात्रा के पन्ने' उनके ऐसे ही ग्रन्थ है।

राहुल सांकृत्यायन का मानना था कि घुमक्कड़ी मानव-मन की मुक्ति का साधन होने के साथ-साथ अपने क्षितिज विस्तार का भी साधन है। उन्होंने कहा भी था कि- 'कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ों, संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।' राहुल ने अपनी यात्रा के अनुभवों को आत्मसात् करते हुए 'घुमक्कड़ शास्त्र' भी रचा। वे एक ऐसे घुमक्कड़ थे जो सच्चे ज्ञान की तलाश में था और जब भी सच को दबाने की कोशिश की गई तो वह बागी हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। वेदान्त के अध्ययन के पश्चात् जब उन्होंने मंदिरों में बलि चढ़ाने की परम्परा के विरूद्ध व्याख्यान दिया तो अयोध्या के सनातनी पुरोहित उन पर लाठी लेकर टूट पड़े। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बावजूद वह इसके 'पुनर्जन्मवाद' को नहीं स्वीकार पाए। बाद में जब वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए तो उन्होंने तत्कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में घुसे सत्तालोलुप सुविधापरस्तों की तीखी आलोचना की और उन्हें आन्दोलन के नष्ट होने का कारण बताया। सन् 1947 में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रूप में उन्होंने पहले से छपे भाषण को बोलने से मना कर दिया एवं जो भाषण दिया, वह अल्पसंख्यक संस्कृति एवं भाषाई सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों के विपरीत था। नतीजन पार्टी की सदस्यता से उन्हें वंचित होना पड़ा, पर उनके तेवर फिर भी नहीं बदले। इस कालावधि में वे किसी बंदिश से परे प्रगतिशील लेखन के सरोकारों और तत्कालीन प्रश्नों से

लगातार जुड़े रहे। इस बीच मार्क्सवादी विचारधारा को उन्होंने भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों का आंकलन करके ही लागू करने पर जोर दिया। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' एवं 'दर्शन-दिग्दर्शन' में इस सम्बन्ध में उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला। अन्ततः सन् 1953-54 के दौरान पुनः एक बार वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनाये गये।

एक कर्मयोगी योद्धा की तरह राहुल सांकृत्यायन ने बिहार के किसान-आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1940 के दौरान किसान-आन्दोलन के सिलसिले में उन्हें एक वर्ष की जेल हुई तो देवली कैम्प के इस जेल-प्रवास के दौरान उन्होंने 'दर्शन-दिग्दर्शन' ग्रन्थ की रचना कर डाली। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात् जेल से निकलने पर किसान आन्दोलन के उस समय के शीर्ष नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'हुंकार' का उन्हें सम्पादक बनाया गया। ब्रिटिश सरकार ने फूट डालो और राज करो की नीति अपनाते हुए गैर कांग्रेसी पत्र-पत्रिकाओं में चार अंकों हेतु 'गुण्डों से लड़िए' शीर्षक से एक विज्ञापन जारी किया। इसमें एक व्यक्ति गाँधी टोपी व जवाहर बण्डी पहने आग लगाता हुआ दिखाया गया था। राहुल सांकृत्यायन ने इस विज्ञापन को छापने से इन्कार कर दिया पर विज्ञापन की मोटी धनराशि देखकर स्वामी सहजानन्द ने इसे छापने पर जोर दिया। अन्ततः राहुल ने अपने को पत्रिका के सम्पादन से ही अलग कर लिया। इसी प्रकार सन् 1940 में 'बिहार प्रान्तीय किसान सभा' के अध्यक्ष रूप में जमींदारों के आतंक की परवाह किए बिना वे किसान सत्याग्रहियों के साथ खेतों में उतर हँसिया लेकर गन्ना काटने लगे। प्रतिरोध स्वरूप जमींदार के लठैतों ने उनके सिर पर वार कर लहुलुहान कर दिया पर वे हिम्मत नहीं हारे। इसी तरह न जाने कितनी बार उन्होंने जनसंघर्षों का सक्रिय नेतृत्व किया और अपनी आवाज को मुखर अभिव्यक्ति दी।

ग्यारह वर्ष की उम्र में हुए अपने विवाह को नकारकर वे बता चुके थे कि उनके अंतःकरण में कहीं न कहीं विद्रोह के बीजों का वपन हुआ है। यायावरी और विद्रोह ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ कालांतर में विकसित हो गईं, जिसके कारण पंदहा गाँव, आजमगढ़ में जन्मा यह केदारनाथ पांडेय नामक बालक देशभर में महापंडित राहुल सांकृत्यायन के नाम से प्रख्यात हो गया।

राहुल सांकृत्यायन सदैव घुमक्कड़ ही रहे। सन् 1923 से उनकी विदेश यात्राओं का सिलसिला शुरू हुआ तो फिर इसका अंत उनके जीवन के साथ ही

हुआ। ज्ञानार्जन के उद्देश्य से प्रेरित उनकी इन यात्राओं में श्रीलंका, तिब्बत, जापान और रूस की यात्राएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। वे चार बार तिब्बत पहुँचे। वहाँ लम्बे समय तक रहे और भारत की उस विरासत का उद्धार किया, जो हमारे लिए अज्ञात, अलभ्य और विस्मृत हो चुकी थी।

अध्ययन-अनुसंधान की विभा के साथ वे वहाँ से प्रभूत सामग्री लेकर लौटे, जिसके कारण हिन्दी भाषा एवं साहित्य की इतिहास संबंधी कई पूर्व निर्धारित मान्यताओं एवं निष्कर्षों में परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। साथ ही शोध एवं अध्ययन के नए क्षितिज खुले।

भारत के सन्दर्भ में उनका यह काम किसी ह्वेनसांग से कम नहीं आँका जा सकता। बाह्य यात्राओं की तरह इन निबंधों में उनकी एक वैचारिक यात्रा की ओर भी संकेत किया गया है, जो पारिवारिक स्तर पर स्वीकृत वैष्णव मत से शुरू हो, आर्य समाज एवं बौद्ध मतवाद से गुजरती हुई मार्क्सवाद पर जाकर खत्म होती है। अनात्मवाद, बुद्ध का जनतंत्र में विश्वास तथा व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध जैसी कुछेक ऐसी समान बातें हैं, जिनके कारण वे बौद्ध दर्शन एवं मार्क्सवाद दोनों को साथ लेकर चले थे।

राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र भाषा के वे प्रबल हिमायती थे। बिना भाषा के राष्ट्र गूँगा है, ऐसा उनका मानना था। वे राष्ट्रभाषा तथा जनपदीय भाषाओं के विकास व उन्नति में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखते थे।

समय का प्रताप कहें या 'मार्क्सवादी के रूप में उनके मरने की इच्छा' कहें, उन्होंने इस आयातित विचार को सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान 'परमब्रह्म' मान लिया और इस झोंक में वे भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में कुछ ऐसी बातें कह बैठे या निष्कर्ष निकाल बैठे, जो उनकी आलोचना का कारण बने।

उनकी भारत की जातीय-संस्कृति संबंधी मान्यता, उर्दू को हिन्दी (खड़ी बोली हिन्दी) से अलग मानने का विचार तथा आर्यों से 'वोल्गा से गंगा' की ओर कराई गई यात्रा के पीछे रहने वाली उनकी धारणा का डॉक्टर रामविलास शर्मा ने तर्कसम्मत खंडन किया है। मत-मतांतर तो चलते रहते हैं, इससे राहुल जी का प्रदेय और महत्त्व कम नहीं हो जाता।

बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद दोनों का मिलाजुला चिंतन उनके पास था, जिसके आधार पर उन्होंने नए भारत के निर्माण का 'मधुर स्वप्न' संजोया था, जिसकी झलक हमें उनकी पुस्तक 'बाईसवीं सदी' में भी मिल जाती है। श्री राहुल

ने अपने कर्तृत्व से हमें अपनी विरासत का दर्शन कराया तथा उसके प्रति हम सबमें गौरव का भाव जगाया।

उनके शब्दों में- ''समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है और आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार।'' यही कारण था कि सारे संसार को अपना घर समझने वाले राहुल सन् 1910 में घर छोड़ने के पश्चात् पुनः सन् 1943 में ही अपने ननिहाल पन्दहा पहुँचे। वस्तुतः बचपन में अपने घुमक्कड़ी स्वभाव के कारण पिताजी से मिली डाँट के पश्चात् उन्होंने प्रण लिया था कि वे अपनी उम्र के पचासवें वर्ष में ही घर में कदम रखेंगे। चूँकि उनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा ननिहाल में ही हुआ था सो ननिहाल के प्रति ज्यादा स्नेह स्वाभाविक था। बहरहाल जब वे पन्दहा पहुँचे तो कोई उन्हें पहचान न सका पर अन्ततः लोहार नामक एक वृद्ध व्यक्ति ने उन्हें पहचाना और स्नेहासक्ति रूधे कण्ठ से 'कुलवन्ती के पूत केदार' कहकर राहुल को अपनी बाँहों में भर लिया। अपनी जन्मभूमि पर एक बुजुर्ग की परिचित आवाज ने राहुल को भावविभोर कर दिया। उन्होंने अपनी डायरी में इसका उल्लेख भी किया है- ''लाहौर नाना ने जब यह कहा कि 'अरे ई जब भागत जाय त भगइया गिरत जाय' तब मेरे सामने अपना बचपन नाचने लगा। उन दिनों गाँव के बच्चे छोटी पतली धोती भगई पहना करते थे। गाँववासी बड़े बुजुर्गों का यह भाव देखकर मुझे महसूस होने लगा कि तुलसी बाबा ने यह झूठ कहा है कि- 'तुलसी तहाँ न जाइये, जहाँ जन्म को ठाँव, भाव भगति को मरम न जाने धरे पाछिलो नाँव।।''

घुमक्कड़ी स्वभाव वाले राहुल सांकृत्यायन सार्वदेशिक दृष्टि की ऐसी प्रतिभा थे, जिनकी साहित्य, इतिहास, दर्शन संस्कृति सभी पर समान पकड़ थी। विलक्षण व्यक्तित्त्व के अद्‌भुत मनीषी, चिन्तक, दार्शनिक, साहित्यकार, लेखक, कर्मयोगी और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में राहुल ने जिन्दगी के सभी पक्षों को जिया। यही कारण है कि उनकी रचनाधर्मिता शुद्ध कलावादी साहित्य नहीं है, वरन् वह समाज, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन इत्यादि से अनुप्राणित है, जो रूढ़ धारणाओं पर कुठाराघात करती है तथा जीवन-सापेक्ष बनकर समाज की प्रगतिशील शक्तियों को संगठित कर संघर्ष एवं गतिशीलता की राह दिखाती है। ऐसे मनीषी को अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'स्मृति लोप' जैसी अवस्था से गुजरना पड़ा एवं इलाज हेतु उन्हें मास्को भी ले जाया गया। पर घुमक्कड़ी को कौन बाँध पाया है, सो अप्रैल 1963 में वे पुनः मास्को से दिल्ली आ गए और 14 अप्रैल 1963 को सत्तर वर्षे की आयु में दार्जिलिंग में संन्यास

से साम्यवाद तक का उनका सफर पूरा हो गया पर उनका जीवन दर्शन और घुमक्कड़ी स्वभाव आज भी हमारे बीच जीवित है।

राहुल जी घुमक्कड़ी के बारे मे कहते हैं–

"मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में, सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गला फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया। जिससे दुनिया जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहायी है, इसमें संदेह नहीं और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते को पकड़ें। किन्तु घुमक्कड़ों के काफिले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जातीं और पशु से ऊपर नहीं उठ पाती। अमेरिका अधिकतर निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूपमंडूक को घुमक्कड़ धर्म की महिमा भूल गयी, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक ऑस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन, भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आयी कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते। "

व्यक्तित्त्व के आयाम

राहुल सांकृत्यायन उन विशिष्ट साहित्य सर्जकों में हैं, जिन्होंने जीवन और साहित्य दोनों को एक तरह से जिया। उनके जीवन के जितने मोड़ आये, वे उनकी तर्क बुद्धि के कारण आये। बचपन की परिस्थिति व अन्य सीमाओं को छोड़कर उन्होंने अपने जीवन में जितनी राहों का अनुकरण किया वे सब उनके अंतर्मन की छटपटाहट के द्वारा तलाशी गई थी। जिस राह को राहुल जी ने अपनाया उसे निर्भय होकर अपनाया। वहाँ न द्विविधा थी न ही अनिश्चय का

कुहासा। ज्ञान और मन की भीतरी पर्तों के स्पंदन से प्रेरित होकर उन्होंने जीवन को एक विशाल परिधि दी। उनके व्यक्तित्त्व के अनेक आयाम हैं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा का विस्तार भी राहुल जी के गतिशील जीवन का ही प्रमाण है। उनके नाम के साथ जुड़े हुए अनेक विशेषण हैं। शायद ही उनका नाम कभी बिना विशेषण के लिया गया हो। उनके नाम के साथ जुड़े हुए कुछ शब्द हैं महापंडित, शब्द-शास्त्री, त्रिपिटकाचार्य, अन्वेषक, यायावर, कथाकार, निबंध-लेखक, आलोचक, कोशकार, अथक यात्री..... और भी जाने क्या-क्या। जो यात्रा उन्होंने अपने जीवन में की, वही यात्रा उनकी रचनाधर्मिता की भी यात्रा थी। राहुल जी के कृतियों की सूची बहुत लंबी है। उनके साहित्य को कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। कथा साहित्य, जीवनी, पर्यटन, इतिहास दर्शन, भाषा-ज्ञान, भाषाविज्ञान, व्याकरण, कोश-निर्माण, लोक साहित्य, पुरातत्त्व आदि। बहिर्जगत् की यात्राएँ और अंतर्मन के आंदोलनों का समन्वित रूप है राहुल जी का रचना-संसार। घुमक्कड़ी उनके बाल-जीवन से ही प्रारंभ हो गई और जिन काव्य-पंक्तियों से उन्होंने प्रेरणा ली, वे है "सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ, जिंदगानी गर रही तो, नौजवानी फिर कहाँ ?"

राहुल जी जीवन-पर्यन्त दुनियाँ की सैर करते रहे। इस सैर में सुविधा-असुविधा का कोई प्रश्न ही नहीं था। जहाँ जो साधन उपलब्ध हुए उन्हें स्वीकार किया। वे अपने अनुभव और अध्ययन का दायरा बढाते रहे। ज्ञान के अगाध भण्डार थे राहुल जी। राहुल जी का कहना था कि 'उन्होंने ज्ञान को सफर में नाव की तरह लिया है। बोझ की तरह नहीं।' उन्हें विश्व पर्यटक का विशेषण भी दिया गया। उनकी घुमक्कडी प्रवृत्ति ने कहा "घुमक्कडों संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।" अनेक ग्रंथों की रचना में उनके यात्रा-अनुभव प्रेरणा के बिंदु रहे हैं। न केवल देश में वरन् विदेशों में भी उन्होंने यात्राएँ की, दुर्गम पथ पार किए। इस वर्ग की कृतियों में कुछेक के नाम हैं- लद्दाख यात्रा, लंका यात्रा, तिब्बत में सवा वर्ष, एशिया के दुर्गम भूखण्डों में, मेरी यूरोप-यात्रा, दार्जिलिंग परिचय, नेपाल, कुमाऊँ जौनसार, देहरादून आदि। जहाँ भी वे गये वहाँ की भाषा और वहाँ की संस्कृति और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। अध्ययन की विस्तृति, अनेक भाषाओं का ज्ञान, घूमने की अद्‌भुत ललक, पुराने साहित्य की खोज, शोध-परक पैनी दृष्टि, समाजशास्त्र की अपनी अवधारणाएँ, प्राकृत-इतिहास की परख आदि वे बिंदु हैं, जो राहुल जी की सोच में, यायावरी में, विचारणा में और लेखन में गतिशीलता देते रहे। उनकी यात्राएँ केवल भूगोल की यात्रा नहीं है।

यात्रा मन की है, अवचेतन की भी है, चेतना के स्थानांतरण की है। व्यक्तिगत जीवन में भी कितने नाम रूप बदले इस रचनाधर्मी ने। बचपन में नाम मिला केदारनाथ पाण्डे, फिर वही बने दामोदर स्वामी, कहीं राहुल सांकृत्यायन, कहीं त्रिपिटकाचार्य..... आदि नामों के बीच से गुजरना उनके चिंतक का प्रमाण था। राहुल बाह्य यात्रा और अंतर्यात्रा के विरले प्रतीक हैं।

राहुल सांकृत्यायन का चित्र आरेखन

ज्ञान की खोज में घूमते रहना राहुल जी की जीवनचर्या थी। उनकी दृष्टि सदैव विकास को खोजती थी। भाषा और साहित्य के संबंध में राहुल जी कहते हैं- ''भाषा और साहित्य, धारा के रूप में चलता है फर्क इतना ही है कि नदी को हम देश की पृष्ठभूमि में देखते हैं, जबकि भाषा, देश और भूमि दोनों की पृष्ठभूमि को लिए आगे बढ़ती है।..... कालक्रम के अनुसार देखने पर ही हमें उसका विकास अधिक सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से लेकर 19वीं सदी के अंत तक की गद्य धारा और काव्य धारा के संग्रहों की आवश्यकता है।"

राहुल जी का पूरा जीवन साहित्य को समर्पित था। साहित्य-रचना के मार्ग को उन्होंने बहुत पहले से चुन लिया था। सत्यव्रत सिन्हा के शब्दों में - "वास्तविक बात तो यह है कि राहुल जी ने किशोरावस्था पार करने के बाद ही लिखना शुरू कर दिया था। जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रुके उसी प्रकार उनके हाथ की लेखनी भी नहीं रुकी। उनकी लेखनी की अजस्रधारा से विभिन्न विषयों के प्राय: एक सौ पचास से अधिक ग्रंथ प्रणीत हुए।"

राहुल जी के व्यक्तित्त्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है-स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भागीदारी। भारत को आजादी मिले यह उनका सपना था और इस सपने को साकार करने के लिए वे असहयोग आंदोलन में निर्भय कूद पड़े। शहीदों का बलिदान उन्हें भीतर तक झकझोरता था। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था- "चौरी-चौरा कांड में शहीद होने वालों का खून देश-माता का चंदन होगा।"

राहुल जी के व्यक्तित्त्व में परहेज जैसी कोई संकीर्णता नहीं थी। विगत को जानना ओर उसमें पैठना, वर्तमान की चुनौती को समझना और समस्याओं से संघर्ष करना, भविष्य का स्वप्न सँवारना-यह राहुल जी की जीवन पद्धति थी। अतीत का अर्थ उनके लिए महज इतिहास को जानना नहीं था, वरन् प्रकृत इतिहास को भी समझना और जानना था। इतिहास का उन्होंने नये अर्थ में उपयोग

किया। उनके शब्दों में, –"जल्दी ही मुझे मालूम हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों का लिखना मुझे हाथ में लेना चाहिए..... कारण यह कि अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति प्रेरणा पैदा की जा सकती है।" उनकी अनेक कृतियाँ जैसे, सतमी के बच्चे, जोंक, बोल्गा से गंगा, जययौधेय, सिंह सेनापति आदि इस बात के परिचायक हैं कि राहुल जी इतिहास, पुरातत्त्व, परंपरा, व्यतीत और अतीत को अपनी निजी विवेचना दे रहे थे। राहुल जी की इतिहास-दृष्टि विलक्षण थी। वे उसमें वर्तमान और भविष्य की कड़ियाँ जोड़ते थे। इतिहास उनके लिए केवल 'घटित' का विवरण नहीं था। उसमें से वे दार्शनिक चिंतन का आधार ढूँढ़ते थे।

पूरे विश्व साहित्य के प्रति राहुल जी के मन में अपार श्रद्धा थी। वह साहित्य चाहे इतिहास से संबंधित हो, या संस्कृति से, अध्यात्म से संबंधित हो या यथार्थ से-सबको वे शोधार्थी की तरह परखते थे। उनकी प्रगतिशीलता में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को देखने का आग्रह था ओढ़ी हुई विदेशी सभ्यता उनकी दृष्टि में हेय थी। वे अपनी भाषा, अपने साहित्य के पुजारी थे। वह साहित्य चाहे संस्कृत का हो, चाहे हिन्दी का, चाहे उर्दू का, चाहे भोजपुरी का। राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में वे कहते थे कि "यदि कोई "गंगा मइया" की जय बोलने के स्थान पर 'बोल्गा' की जय बोलने के लिए कहे, तो मैं इसे पागल का प्रलाप ही कहूँगा।"

बोलियों और जनपदीय भाषा का सम्मान करना राहुल जी की स्वभावगत विशेषता थी। भोजपुरी उन्हें प्रिय थी। क्योंकि वह उनकी माटी की भाषा थी। लोक-नाट्य परंपरा को वे संस्कृति का वाहक मानते थे। लोकनाटक और लोकमंच किसी भी जनआंदोलन में अपनी सशक्त भूमिका निभाते हैं, यह दृष्टि राहुल जी की थी। इसीलिए उन्होंने भोजपुरी नाटकों की रचना की। इसमें उन्होंने अपना नाम "राहुल बाबा" दिया। सामाजिक विषमता के विरोध में इन नाटकों में और गीतों में अनेक स्थलों पर मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। बेटा और बेटी के भेदभाव पर कही गई ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं- "एके माई बापता से एक ही उदवा में दूनों में जनमवाँ भइल रे पुरखवा, पूत के जनमवाँ में नाच और सोहर होला बैटी जनम धरे सोग रे पुरखवा।" भोजपुरी के इन नाटकों को वे वैचारिक धरातल पर लाए और जन-भाषा में सामाजिक बदलाव के स्वर को मुखरित किया। ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा और जन-चेतना के प्रति निष्ठा ने राहुल जी के व्यक्तित्त्व को इतना प्रभा-मंडल दिया कि उसे मापना किसी आलोचक की

सामर्थ्य के परे है। इसके अलावा जो सबसे बडी विशेषता थी-की वह यह थी कि यश और प्रशंसा के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर भी वे सहृदय मानव थे, राहुल जी भाषात्मक एकता के पोषक थे। वह सांप्रदायिक सद्भाव के समर्थक थे। अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। वे हर भाषा और उसके साहित्य को महत्त्व ही नहीं देते थे, वरन् उसे अपनाने की बात कहते थे। हिन्दी के अनन्य प्रेमी होने के बावजूद वे उर्दू और फारसी के साहित्यकारों की कद्र करते थे, वे कहते हैं, "सौदा और आतिश हमारे हैं। गालिब और दाग हमारे हैं। निश्चय ही यदि हम उन्हें अस्वीकृत कर देते हैं तो संसार में कहीं और उन्हें अपना कहने वाला नहीं मिलेगा।"

राहुल जी अद्भुत वक्ता थे। उनका भाषण प्रवाहपूर्ण और स्थायी प्रभाव डालने वाला होता था। एक बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राहुल जी की भाषण शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा था, "मैं गोष्ठियों, समारोहों, सम्मेलनों, में वैसे तो बेधड़क बोलता हूँ, लेकिन जिस सभा, सम्मेलन या गोष्ठी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन होते हैं, वहाँ बोलने में सहमता हूँ। उनके व्यक्तित्त्व एवं अगाध विद्वत्ता के समक्ष अपने को बौना महसूस करता हूँ।" द्विवेदीजी का यह प्रशस्तिभाव इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि द्विवेदीजी स्वयं हिन्दी के असाधारण वक्ता और असाधारण विद्वान् थे। राहुल जी की कृतज्ञ भावना उनकी पुस्तक "जिनका मैं कृतज्ञ" में देखने को मिलती है। इसके प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है, "जिनका मैं कृतज्ञ" लिखकर उस ऋण से उऋण होना चाहता हूँ, जो इन बुजुर्गों और मित्रों का मेरे ऊपर है। उनमें से कितने ही इस संसार में नहीं हैं। वे इन पंक्तियों को नहीं देख सकते। इनमें सिर्फ वही नहीं हैं जिनसे मैंने मार्गदर्शन पाया था, बल्कि ऐसे भी पुरुष हैं जिनका सेफ मानसिक संबल के रूप में जीवन यात्रा के रूप में हुआ। कितनो से बिना उनकी जानकारी, उनके व्यवहाँर और बर्ताव से मैंने बहुत कुछ सीखा। मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिए।"

राहुल जी का व्यक्तित्त्व इतना बहुआयामी था कि उसको शब्दों की परिधि में बाँधना दु:साध्य है। उनका अध्ययन और लेखन इतना विशाल है कि कई-कई शोधार्थी भी मिलकर कार्य करें तो भी श्रम और समय की कोई एक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रवाहपूर्ण लेखनी और पैनी दृष्टि से वे ऐसे रचनाधर्मी थे, जिसने अपने जीवनकाल में ही यश के ऊँचे शिखर छू लिए थे। राहुल जी शब्द-सामर्थ्य और सार्थक-अभिव्यक्ति के मूर्तिमान रूप थे।

हिन्दी प्रेम

हिन्दी को राहुल जी ने बहुत प्यार दिया। उन्हीं के अपने शब्द है, "मैंने नाम बदला, वेशभूषा बदली, खान-पान बदला, संप्रदाय बदला लेकिन हिन्दी के संबंध में मैंने विचारों में कोई परिवर्तन नहीं किया।" राहुल जी के विचार आज बेहद प्रासंगिक हैं। उनकी उक्तियाँ सूत्र-रूप में हमारा मार्गदर्शन करती हैं। हिन्दी को खड़ी बोली का नाम भी राहुल जी ने ही दिया था।

हिन्दी के प्रसंग में वह कहते हैं–

"हिंदी, अंग्रेजी के बाद दुनिया के सर्वाधिक संख्यावाले लोगों की भाषा है। इसका साहित्य 750 ई. से शुरू होता है और सरहपा, कन्हापा, गोरखनाथ, चन्द्र, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, हरिश्चंद्र, जैसे–कवि और लल्लूलाल, प्रेमचंद जैसे–प्रलेखक दिए हैं इसका भविष्य अत्यंत उज्जवल, भूत से भी अधिक प्रशस्त है। हिंदी भाषी लोग भूत से ही नहीं आज भी सब से अधिक प्रवास निरत जाति हैं।"

पुरस्कार व सम्मान

राहुल सांकृत्यायन पर जारी डाक टिकट।

राहुल सांकृत्यायन की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 1993 में उनकी जन्मशती के अवसर पर 100 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। पटना में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। यहाँ उनसे संबंधित वस्तुओं का एक संग्रहालय भी है। उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संग्रहालय की स्थापना की गई है, जहाँ उनका जन्म हुआ था। वहाँ उनकी एक वक्षप्रतिमा भी है। साहित्यकार प्रभाकर माचवे ने राहुल जी की जीवनी लिखी है और उनके व्यक्तित्त्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1978 में पहली बार प्रकाशित हुई थी। इसका अनुवाद अंग्रेजी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी प्रकाशित हुआ। राहुल जी की कई पुस्तकों के अंग्रेजी रूपांतर तो हुए ही हैं, चीनी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी उनकी कृतियां लोकप्रिय हुई हैं। उन्हें 1958 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, तथा 1963 में भारत सरकार के पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया।

राहुल का संघर्ष (पुस्तक)

महापंडित राहुल सांकृत्यायन को लेकर समय-समय पर काफी लिखा जाता रहा है। फलस्वरूप पढ़ने की दृष्टि से उन पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, किंतु श्रीनिवास शर्मा की पुस्तक 'राहुल का संघर्ष' एक पृथक कोण पर केंद्रित है। यह कोण है राहुल जी के जीवन एवं कार्यों में अविच्छिन्न संघर्ष की धारा का प्रवाहमान रहना।

पुस्तक में लेखक के अठारह (उपसंहार सहित) निबंध संकलित हैं। इनमें प्रथम चार का संबंध राहुल जी की कुल परंपरा, उनके माता-पिता, उनके प्रथम विवाह एवं उनके किशोर मन में मौजूद अस्वीकार एवं विद्रोह की मुद्रा से है। आगे आने वाले निबंधों में उनके घुमक्कड़ स्वभाव, भाषा, साहित्य तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में उनकी खोजों एवं उपलब्धियों, बौद्ध धर्म तथा दर्शन के प्रति उनके झुकाव तथा दीक्षा, मार्क्सवाद, किसान आंदोलन आदि को लेकर व्यापक चर्चा हुई है।

निबंध क्रमांक चौदह-पंद्रह में राष्ट्रभाषा एवं जनपदीय भाषाओं के बारे में उनके विचार हैं। अंत के निबंधों में उनकी इतिहास दृष्टि तथा रचनाओं की संक्षिप्त रूपरेखा को विषयवस्तु बनाया गया है। पुस्तक रोचक बन पड़ी है। निबंधों में राहुल जी से संबंधित अनेक अनछुए पहलू भी सामने आए हैं।

साहित्यिक कृतियां

कहानियाँ
सतमी के बच्चे
वोल्गा से गंगा
बहुरंगी मधुपुरी
कनैला की कथा
उपन्यास
बाई: सदी
जीने के लिए
सिंह सेनापति
जय यौधेय
भागो नहीं, दुनिया को बदलो
मधुर स्वप्न

राजस्थान निवास
विस्मृत यात्री
दिवोदास
आत्मकथा
मेरी जीवन यात्रा
जीवनियाँ
सरदार पृथ्वीसिंह
नए भारत के नए नेता
बचपन की स्मृतियाँ
अतीत से वर्तमान
स्तालिन
लेनिन
कार्ल मार्क्स
माओ-त्से-तुंग
घुमक्कड़ स्वामी
मेरे असहयोग के साथी
जिनका मैं कृतज्ञ
वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली
सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन
कप्तान लाल
सिंहल के वीर पुरुष
महामानव बुद्ध
यात्रासाहित्य
लंका
जापान
ईरान
किन्नर देश की ओर
चीन में क्या देखा
मेरी लद्दाख यात्रा
मेरी तिब्बत यात्रा
तिब्बत में सवा वर्ष

रूस में पच्चीस मास
विश्व की रूपरेखा

शिवसिंह सेंगर

शिवसिंह सेंगर (संवत् 1890–1935 वि.) हिन्दी के इतिहास लेखक थे।

शिवसिंह सेंगर ग्राम कांथा जिला उन्नाव के जमींदार श्री रणजीतसिंह के पुत्र थे। वे पुलिस इंस्पेक्टर होते हुए भी संस्कृत, फारसी और हिंदी कविता के अध्येता, रसिक काव्यप्रेमी तथा स्वयं भी कवि थे। 'ब्रह्मोत्तर खंड' और 'शिवपुराण' का हिंदी अनुवाद करने के अतिरिक्त आपकी प्रसिद्धि हिंदी कविता के पहले इतिहासग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' (रचनाकाल सं. 1934 वि.) लिखने के कारण है। हिन्दी साहित्य में उनकी अपार निष्ठा थी। उनका निजी पुस्तकालय हिन्दी साहित्य की पुस्तकों से भरा था। जब बहुत सारी पुस्तकें जमा हो गईं तो उनके मन में आया कि इन ग्रन्थों और कवियों का परिचय दिया जाय।

इस अनूठे साहित्यसेवी का देहावसान 1879 ई. में मात्र 45 वर्ष की आयु में हुआ।

शिवसिंह सरोज

शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर द्वारा रचित हिन्दी कविता का पहला इतिहासग्रन्थ है। इसमें लगभग एक सहस्र कवियों के जीवन और काव्य का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय है। कवियों के जीवनकाल आदि के सम्बन्ध में कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, जिनका अपने ढंग के पहले ग्रंथ में होना बहुत स्वाभाविक है, इस कृति के लिए हिन्दी जगत् सर्वदा उनका आभारी रहेगा। डॉ. ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिंदुस्तान' 'शिवसिंह सरोज' पर ही लगभग आधारित है। आज भी यह कृति हिन्दी कविता के इतिहास के लिये संदर्भग्रन्थ बनी हुई है।

किसी भारतीय विद्वान द्वारा लिखा गया यह प्रथम हिन्दी-इतिहास है। यह ग्रन्थ हिन्दी विद्वानों में बहुचर्चित रहा है। डॉ रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ से काफी सहायता ली है। शिवसिंह सरोज का पहला प्रकाशन सन् 1878 में हुआ। 1883 में इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इससे इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। सन् 1926 में इसका सातवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ।

1970 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से इसका नवीनतम संस्करण प्रकाशित हुआ है।

'शिवसिंह सरोज' क्यों लिखा गया, इसका उत्तर लेखक ने इस पुस्तक की भूमिका में दे दिया है-

मैंने सन् 1876 ई. में भाषा कवियों के जीवन चरित्र विषयक एक-दो ग्रंथ ऐसे देखे जिनमें ग्रंथकर्ता ने मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को लिखा था कि वे असनी के महापात्र भाट हैं। इसी तरह की बहुत सी बातें देख कर मुझसे चुप नहीं रहा गया। मैंने सोचा कि अब कोई ग्रंथ ऐसा बनाना चाहिए जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के जीवन चरित्र, सन्-संवत, जाति, निवास-स्थान आदि कविता के ग्रंथों समेत विस्तारपूर्वक लिखे हों।

सन् 1877-78 में उन्होंने ग्रंथों का गहराई से अध्ययन प्रारंभ किया और एक वर्ष और 3 महीने में 'शिवसिंह सरोज' का लेखन पूर्ण कर लिया।शिवसिंहसरोज, किसी भारतीय द्वारा लिखी गई हिन्दी साहित्य के इतिहास की पहली पुस्तक है। इसके लेखक शिवसिंह सेंगर हैं। 1883 ई0 मे लिखी गई इस पुस्तक में एक हजार साहित्यकारों का परिचय दिया गया है। इसमें वास्तव में हिंदी साहित्य के इतिहास का एक ढाँचा तैयार करने का प्रयास मिलता है। इसमें एक सहस्र (838 कवि) 'भाषा कवियों' का जीवनचरित तथा उनकी कविताओं के उदाहरण दिये गये हैं। इसका प्रकाशन 1883 ई. मैं हुआ।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' (1883 - 12 सितम्बर 1922) हिन्दी के कथाकार, व्यंगकार तथा निबन्धकार थे।

जीवनी

मूलत: हिमाचल प्रदेश के गुलेर गाँव के वासी ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय पंडित शिवराम शास्त्री राजसम्मान पाकर जयपुर (राजस्थान) में बस गए थे। उनकी तीसरी पत्नी लक्ष्मीदेवी ने सन् 1883 में चन्द्रधर को जन्म दिया। घर में बालक को संस्कृत भाषा, वेद, पुराण आदि के अध्ययन, पूजा-पाठ, संध्या-वंदन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का वातावरण मिला और मेधावी चन्द्रधर ने इन सभी संस्कारों और विद्याओं को आत्मसात् किया। आगे चलकर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा भी प्राप्त की और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे। कलकत्ता विश्वविद्यालय से

एम. ए. करने के बाद चाहते हुए भी वे आगे की पढ़ाई परिस्थितिवश जारी न रख पाए हालाँकि उनके स्वाध्याय और लेखन का क्रम अबाध रूप से चलता रहा। बीस वर्ष की उम्र के पहले ही उन्हें जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार तथा उससे सम्बन्धित शोधकार्य के लिए गठित मण्डल में चुन लिया गया था और कैप्टन गैरेट के साथ मिलकर उन्होंने 'द जयपुर ऑब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' शीर्षक अंग्रेजी ग्रन्थ की रचना की।

अपने अध्ययन काल में ही उन्होंने सन् 1900 में जयपुर में नागरी मंच की स्थापना में योग दिया और सन् 1902 से मासिक पत्र 'समालोचक' के सम्पादन का भार भी सँभाला। प्रसंगवश कुछ वर्ष काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सम्पादक मंडल में भी उन्हें सम्मिलित किया गया। उन्होंने देवी प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला और सूर्य कुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी पुस्तकमाला और सूर्य कुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति भी रहे।

जयपुर के राजपण्डित के कुल में जन्म लेनेवाले गुलेरी जी का राजवंशों से घनिष्ठ सम्बन्धे रहा। वे पहले खेतड़ी नरेश जयसिंह के और फिर जयपुर राज्य के सामन्त-पुत्रों के अजमेर के मेयो कॉलेज में अध्ययन के दौरान उनके अभिभावक रहे। सन् 1916 में उन्होंने मेयो कॉलेज में ही संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद सँभाला। सन् 1920 में पं मदन मोहन मालवीय के प्रबंध आग्रह के कारण उन्होंने बनारस आकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या विभाग के प्राचार्य और फिर 1922 में प्राचीन इतिहास और धर्म से सम्बद्ध मनीन्द्र चन्द्र नन्दी पीठ के प्रोफेसर का कार्यभार भी ग्रहण किया।

इस बीच परिवार में अनेक दुखद घटनाओं के आघात भी उन्हें झेलने पड़े। सन् 1922 में 12 सितम्बर को पीलिया के बाद तेज ज्वर से मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में उनका देहावसान हो गया।

कार्य

इस थोड़ी-सी आयु में ही गुलेरी जी ने अध्ययन और स्वाध्याय के द्वारा हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत प्राकृत बांग्ला मराठी आदि का ही नहीं जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं का ज्ञान भी हासिल किया था। उनकी रुचि का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत था और धर्म, ज्योतिष इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन भाषाविज्ञान शिक्षाशास्त्र और साहित्य से लेकर संगीत, चित्रकला, लोककला, विज्ञान और

राजनीति तथा समसामयिक सामाजिक स्थिति तथा रीति-नीति तक फैला हुआ था। उनकी अभिरुचि और सोच को गढ़ने में स्पष्ट ही इस विस्तृत पटभूमि का प्रमुख हाथ था और इसका परिचय उनके लेखन की विषयवस्तु और उनके दृष्टिकोण में बराबर मिलता रहता है।

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के साथ एक बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि उनके अध्ययन, ज्ञान और रुचि का क्षेत्र हालाँकि बेहद विस्तृत था और उनकी प्रतिभा का प्रसार भी अनेक कृतियों, कृतिरूपों और विधाओं में हुआ था, किन्तु आम हिन्दी पाठक ही नहीं, विद्वानों का एक बड़ा वर्ग भी उन्हें अमर कहानी 'उसने कहा था' के रचनाकार के रूप में ही पहचानता है। इस कहानी की प्रखर चौंध ने उनके बाकी वैविध्य भरे सशक्त कृति संसार को मानो ग्रस लिया है। उनके प्रबल प्रशंसक और प्रखर आलोचक भी अमूमन इसी कहानी को लेकर उलझते रहे हैं। प्राचीन साहित्य, संस्कृति, हिन्दी भाषा समकालीन समाज, राजनीति आदि विषयों से जुड़ी इनकी विद्वता का जिक्र यदा-कदा होता रहता है, पर 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' जैसे–एक दो निबन्धों और पुरानी हिन्दी जैसी लेखमाला के उल्लेख को छोड़कर उस विद्वता की बानगी आम पाठक तक शायद ही पहुँची हो। व्यापक हिन्दी समाज उनकी प्रकाण्ड विद्वता और सर्जनात्मक प्रतिभा से लगभग अनजान है।

अपने 39 वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में गुलेरी जी ने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना तो नहीं कि किन्तु फुटकर रूप में बहुत लिखा, अनगिनत विषयों पर लिखा और अनेक विधाओं की विशेषताओं और रूपों को समेटते-समंजित करते हुए लिखा। उनके लेखन का एक बड़ा हिस्सा जहाँ विशुद्ध अकादमिक अथवा शोधपरक है, उनकी शास्त्राज्ञता तथा पाण्डित्य का परिचायक है, वहीं, उससे भी बड़ा हिस्सा उनके खुले दिमाग, मानवतावादी दृष्टि और समकालीन समाज, धर्म राजनीति आदि से गहन सरोकार का परिचय देता है। लोक से यह सरोकार उनकी 'पुरानी हिन्दी' जैसी अकादमिक और 'महर्षि च्यवन का रामायण' जैसी शोधपरक रचनाओं तक में दिखाई देता है। इन बातों के अतिरिक्त गुलेरी जी के विचारों की आधुनिकता भी हमसे आज उनके पुराविष्कार की माँग करती है।

मात्र 39 वर्ष की जीवन-अवधि को देखते हुए गुलेरी जी के लेखन का परिमाण और उनकी विषय-वस्तु तथा विधाओं का वैविध्य सचमुच विस्मयकर है। उनकी रचनाओं में कहानियाँ कथाएँ, आख्यान, ललित निबन्ध, गम्भीर विषयों पर विवेचनात्मक निबन्ध, शोधपत्र, समीक्षाएँ, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, पत्र विधा

में लिखी टिप्पणियाँ, समकालीन साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म, विज्ञान, कला आदि पर लेख तथा वक्तव्य, वैदिक/पौराणिक साहित्य, पुरातत्त्व, भाषा आदि पर प्रबन्ध, लेख तथा टिप्पणियाँ-सभी शामिल हैं।

विषय-वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से गुलेरी जी का लेखन धर्म पुरातत्त्व, इतिहास और भाषाशास्त्र जैसे–गम्भीर विषयों से लेकर काशी की नींद जैसे–हल्के-फुल्के विषयों तक को समान भाव से समेटता है। विषयों का इतना वैविध्य लेखक के अध्ययन, अभिरुचि और ज्ञान के विस्तार की गवाही देता है, तो हर विषय पर इतनी गहराई से समकालीन परिप्रेक्ष्य में विचार अपने समय और नए विचारों के प्रति उसकी सजगता को रेखांकित करता है। राज ज्योतिषी के परिवार में जन्मे, हिन्दू धर्म के तमाम कर्मकाण्डों में विधिवत् दीक्षित, त्रिपुण्डधारी निष्ठावान ब्राह्मण की छवि से यह रूढ़िभंजक यथार्थ शायद मेल नहीं खाता, मगर उस सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक उत्तेजना के काल में उनका प्रतिगामी रुढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाना स्वाभाविक ही था। यह याद रखना जरूरी है कि वे रूढ़ियों के विरोध के नाम पर केवल आँख मूँदकर तलवार नहीं भाँजते। खण्डन के साथ ही वे उचित और उपयुक्त का मंडन भी करते हैं। किन्तु धर्म, समाज, राजनीति और साहित्य में उन्हें जहाँ कहीं भी पाखण्ड या अनौचित्य नजर आता है, उस पर वे जमकर प्रहार करते हैं। इस क्रम में उनकी वैचारिक पारदर्शिता, गहराई और दूरदर्शिता इसी बात से सिद्ध है कि उनके उठाए हुए अधिकतर मुद्दे और उनकी आलोचना आज भी प्रासंगिक हैं।

उनके लेखन की रोचकता उसकी प्रासंगिकता के अतिरिक्त उसकी प्रस्तुति की अनोखी भंगिमा में भी निहित है। उस युग के कई अन्य निबन्धकारों की तरह गुलेरी जी के लेखन में भी मस्ती तथा विनोद भाव एक अन्तर्धारा लगातार प्रवाहित होती रहती है। धर्मसिद्धान्त, अध्यात्म आदि जैसे–कुछ एक गम्भीर विषयों को छोड़कर लगभग हर विषय के लेखन में यह विनोद भाव प्रसंगों के चुनाव में भाषा के मुहावरों में उद्धरणों और उक्तियों में बराबर झंकृत रहता है। जहाँ आलोचना कुछ अधिक भेदक होती है, वहाँ यह विनोद व्यंग्य में बदल जाता है-जैसे–शिक्षा, सामाजिक, रूढ़ियों तथा राजनीति सम्बन्धी लेखों में इससे गुलेरी जी की रचनाए कभी गुदगुदाकर, कभी झकझोरकर पाठक की रुचि को बाँधे रहती हैं।

भाषा-शैली

गुलेरी जी की शैली मुख्यत: वार्तालाप की शैली है जहाँ वे किस्साबयानी के लहजे में मानो सीधे पाठक से मुखातिब होते हैं। यह साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली को सँवरने का काल था। अत: शब्दावली और प्रयोगों के स्तर पर सामरस्य और परिमार्जन की कहीं-कहीं कमीं भी नजर आती है। कहीं वे 'पृश्णि', 'क्लृप्ति' और 'आग्मीघ्र' जैसे–अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं तो कहीं 'बेर', 'बिछोड़ा' और 'पेंड़' जैसे–ठेठ लोकभाषा के शब्दों का। अंग्रेजी अरबी-फारसी आदि के शब्द ही नहीं पूरे-के-पूरे मुहावरे भी उनके लेखन में तत्सम या अनूदित रूप में चले आते हैं। पर भाषा के इस मिले-जुले रूप और बातचीत के लहजे से उनके लेखन में एक अनौपचारिकता और आत्मीयता भी आ गई है। हाँ गुलेरी जी अपने लेखन में उद्धरण और उदाहरण बहुत देते हैं। इन उद्धरणों और उदाहरणों से आमतौर पर उनका कथ्य और अधिक स्पष्ट तथा रोचक हो उठता है, पर कई जगह यह पाठक से उदाहरण की पृष्ठभूमि और प्रसंग के ज्ञान की माँग भी करता है आम पाठक से प्राचीन भारतीय वांग्मय, पश्चिमी साहित्य, इतिहास आदि के इतने ज्ञान की अपेक्षा करना ही गलत है। इसलिए यह अतिरिक्त 'प्रसंगगर्भत्व' उनके लेखन के सहज रसास्वाद में कहीं-कहीं अवश्य ही बाधक होता है।

बहरहाल गुलेरी जी की अभिव्यक्ति में कहीं भी जो भी कमियाँ रही हों, हिन्दी भाषा और शब्दावली के विकास में उनके सकारात्मक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे खड़ी बोली का प्रयोग अनेक विषयों और अनेक प्रसंगों में कर रहे थे-शायद किसी भी अन्य समकालीन विद्वान से कहीं बढ़कर। साहित्य पुराण-प्रसंग इतिहास, विज्ञान, भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों की वाहक उनकी भाषा स्वाभाविक रूप से ही अनेक प्रयुक्तियों और शैलियों के लिए गुंजाइश बना रही थी। वह विभिन्न विषयों को अभिव्यक्त करने में हिन्दी की सक्षमता का जीवन्त प्रमाण है। हर सन्दर्भ में उनकी भाषा आत्मीय तथा सजीव रहती है, भले ही कहीं-कहीं वह अधिक जटिल या अधिक हल्की क्यों न हो जाती हो। गुलेरी जी की भाषा और शैली उनके विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नहीं थी। वह युग-सन्धि पर खड़े एक विवेकी मानस का और उस युग की मानसिकता का भी प्रामाणिक दस्तावेज है। इसी ओर इंगित करते हुए प्रो. नामवर सिंह का भी कहना है, ''गुलेरी जी हिन्दी में सिर्फ एक नया गद्य या नयी शैली नहीं गढ़ रहे

थे बल्कि वे वस्तुत: एक नयी चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य नयी चेतना का सर्जनात्मक साधन है।''

आज के युग में गुलेरी जी की प्रासंगिकता

गुलेरी जी का सरोकार अपने समय के केवल भाषिक और साहित्यिक आन्दोलनों से ही नहीं, उस युग के जीवन के हर पक्ष से था। किसी भी प्रसंग में जो स्थिति उनके मानस को आकर्षित या उत्तेजित करती थी, उस पर टिप्पणी किए बगैर वे रह नहीं पाते थे। ये टिप्पणियाँ उनके सरोकारों, कुशाग्रता और नजरिये के खुलेपन की गवाही देती हैं। अनेक प्रसंगों में गुलेरी जी अपने समय से इतना आगे थे कि उनकी टिप्पणियाँ आज भी हमें अपने चारों ओर देखने और सोचने को मजबूर करती हैं।

'खेलोगे कूदोगे होगे खराब' की मान्यता वाले युग में गुलेरी जी खेल को शिक्षा का सशक्त माध्यम मानते थे। बाल-विवाह के विरोध और स्त्री-शिक्षा के समर्थन के साथ ही आज से सौ साल पहले उन्होंने बालक-बालिकाओं के स्वस्थ चारित्रिक विकास के लिए सह-शिक्षा को आवश्यक माना था। ये सब आज हम शहरी जनों को इतिहास के रोचक प्रसंग लग सकते हैं, किन्तु पूरे देश के सन्दर्भ में, यहाँ फैले अशिक्षा और अन्धविश्वास के माहौल में गुलेरी जी की बातें आज भी तर्क संगत और विचारणीय हैं। भारतवासियों की कमजोरियाँ का वे लगातार जिक्र करते रहते हैं-विशेषकर सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भों में। हमारे अध:पतन का एक कारण आपसी फूट है-''यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने को दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा है'' (डिनामिनेशन कॉलेज–1904) जाति-व्यवस्था भी हमारी बहुत बड़ी कमजोरी है। गुलेरी जी ने सबसे मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्मक्षेत्र में आने का आहवान करते हैं जहाँ सामाजिक जाति भेद नहीं, मानसिक जाति भेद नहीं और जहाँ जाति भेद है तो कार्य व्यवस्था के हित (वर्ण विषयक कतिपय विचार–1920)। छुआछूत को वे सनातन धर्म के विरुद्ध मानते हैं। अर्थहीन कर्मकाण्डों और ज्योतिष से जुड़े अन्धविश्वासों का वे जगह-जगह जोरदार खण्डन करते हैं। केवल शास्त्रामूलक धर्म को वे बाह्यधर्म मानते हैं और धर्म को कर्मकाण्ड से न जोड़कर इतिहास और समाजशास्त्र से जोड़ते हैं। धर्म का अर्थ उनके लिए ''सार्वजनिक प्रीतिभाव है'' ''जो साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष को बुरा मानता है'' (श्री भारतवर्ष

महामण्डल रहस्य–1906)। उनके अनुसार उदारता, सौहार्द और मानवतावाद ही धर्म के प्राणतत्त्व होते हैं और इस तथ्य की पहचान बेहद जरूरी है।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4 अक्टूबर, 1884– 2 फरवरी, 1941) हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनर्व्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा (FA) उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अत: परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा, जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं–

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं–

आलोचनात्मक ग्रंथ–सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ–उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है, जिसमें शुक्ल जी की लेखन शैली गत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्त्व है, क्रोधी की मानसिकता-जैसे संबन्धित पहलुओं का विश्लेषण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनूदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनूदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बांग्ला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं –

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध– 'कविता क्या है' 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ-साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्रा में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहाँरिक आलोचनात्मक निबंध– भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहाँरिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध– मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भाँति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्रायः दो रूप मिलते हैं –

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णत: विद्यमान है। अत: इस प्रकार की भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यावहारिक

भाषा का सरल और व्यवहाँरिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यवहाँरिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क अटकल-पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है। तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काँटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग नि:संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भाँति वाक्यों के सूत्र में गुँथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्त्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप हैं -

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यवहाँरिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे– बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम 'बिंबग्रहण' या 'चित्रनुभव' कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्राण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएं शास्त्राबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया।

इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहाँरिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है, उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहाँरिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएं स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्त्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढ़लता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहाँरिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सार्भक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख

विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवाद ग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी (19 अगस्त 1907 - 19 मई 1979) हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई0 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से द्विवेदीजी ने शांति निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया।

बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्त्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बांग्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है।

रचनाए

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाए निम्नलिखित हैं–

आलोचनात्मक

सूर साहित्य (1936)

हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)

कबीर (1942)

नाथ संप्रदाय (1950)

हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)
साहित्य का मर्म (1949)
मेघदूत: एक पुरानी कहानी (1957)
लालित्य तत्त्व (1962)
साहित्य सहचर (1965)
कालिदास की लालितय योजना (1965)
मध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)
हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास (1952)
मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)
सहज साधना (1963)
निबंध संग्रह
अशोक के फूल (1948)
कल्पलता (1951)
विचार और वितर्क (1954)
विचार-प्रवाह (1959)
कुटज (1964)
विश के दन्त

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा (1946)
चारु चंद्रलेख(1963)
पुनर्नवा(1973)
अनामदास का पोथा(1976)
अन्य
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)
संदेश रासक (1960)
सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण (1979)
महापुरुषों का स्मरण (1977)

ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई. में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ।

यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई. में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त वृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन् 2011 ई. में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक - सं.-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से, नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से)

दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से)

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से)

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)- विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी-समग्र पुनरावलोकन - चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से, हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्रा- नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

रचनात्मक वैशिष्ट्य

वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं – विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बाँटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है।

भाषा

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं – (1) प्रांजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

शैली

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं –

(1) गवेषणात्मक शैली द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ

बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए - लोक और शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।

(2) वर्णनात्मक शैली द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

(3) व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(4) व्यास शैली द्विवेदी जी ने जहाँ अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहाँ उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

महत्त्वपूर्ण कार्य

द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गई। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

मानवतावाद और द्विवेदी जी

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है।

सम्मान

हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन् 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

बच्चन सिंह

बच्चन सिंह (जन्म: 2 जुलाई 1919 जौनपुर, मृत्यु: 5 अप्रैल 2008 वाराणसी) एक हिन्दी साहित्यकार, आलोचक एवं इतिहासकार थे। हिन्दी साहित्य में बच्चन सिंह की ख्याति सैद्धान्तिक लेखन के क्षेत्र में असंदिग्ध है।

जीवनी

बच्चन सिंह का जन्म 2 जुलाई 1919 को उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले के भदवार ग्राम में हुआ था। उन्होंने उदय प्रताप कॉलेज तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से शिक्षा प्राप्त की। विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की प्रबन्ध समिति के पूर्व सदस्य एवं पदाधिकारी रहे। नागरी प्रचारिणी पत्रिका का लगभग एक दशक तक अवैतनिक सम्पादन भी किया। वाराणसी में 5 अप्रैल 2008 को पक्षाघात से उनका देहान्त हो गया।

प्रतिनिधि कृतियाँ

आलोचना
क्रान्तिकारी कवि निराला
समकालीन साहित्य–आलोचना और चुनौती
हिन्दी नाटक
रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना
साहित्य का समाजशास्त्र
बिहारी का नया मूल्यांकन
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
हिन्दी आलोचना के बीज शब्द
आलोचना और आलोचना
भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन
कथाकार जैनेन्द्र

आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए
हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
कविता का शुक्ल पक्ष
निराला का काव्य
औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक समय
उपन्यास का काव्यशास्त्र
निराला काव्य-कोश
साहित्यिक निबन्ध–आधुनिक दृष्टिकोण

कहानी-संग्रह

कई चेहरों के बाद

उपन्यास

लहरें और कगार
पांचाली
कुन्ती

हिन्दी अनुवाद

महाभारत की कथा (बुद्धदेव बसु की पुस्तक महाभारतेर का) इसके अतिरिक्त शहीद क्रान्तिकारियों के जीवन पर आधारित उनके ये उपन्यास भी काफी लोकप्रिय हुए। फाँसी से पूर्व (रामप्रसाद बिस्मिल पर), शहीद-ए-आजम (भगत सिंह पर), शहादत (चन्द्रशेखर आजाद पर)।

❐❐❐